महोपाध्याय श्रीक्षमाकल्याणगणिविरचित

तर्कसंग्रह फक्किका

मुनिश्री वैराग्यरतिविजयजी

श्रीविजयमहोदयसूरिग्रंथमाला-१४

महोपाध्यायश्रीक्षमाकल्याणगणिविरचितफक्किकाव्याख्यासमन्वितदीपिकाव्याख्यासमेतः

तर्कसङ्ग्रहः

सम्पादक

डॉ. जितेन्द्र जेटली,

एम. ए., पी.एच. डी., न्यायाचार्य

पुनःसम्पादक

मुनिश्रीवैराग्यरतिविजयजीम.

लाभार्थी

श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथआराधक ट्रस्ट,

पुखराज रायचंद आराधना भवन

साबरमती, अहमदाबाद

श्रीविजयमहोदयसूरिग्रंथमाला-१४

ग्रन्थनाम	:	**तर्कसङ्ग्रह**
सम्पादक	:	**डॉ. जितेन्द्र जेटली**
पुनःसम्पादक	:	**मुनिवैराग्यरतिविजय**
प्रकाशक	:	**प्रवचन प्रकाशन—पूना**
आवृत्ति	:	**प्रथमा**
मूल्य	:	**रू. ३५-००**
पत्र	:	२६+८४

© : PRAVACHAN PRAKASHAN, 2004

प्राप्तिस्थान

पूना	:	**प्रवचन प्रकाशन,** ४८८, रविवार पेठ, पूना-४११००२, फोन : ०२०-२४४५३०४४
अहमदाबाद	:	**पुखराज रायचंद आराधना भवन,** साबरमती, अहमदाबाद-५
		११२, सरस्वती पुस्तक भंडार, हाथीखाना, रतनपोल, अहमदाबाद ३८०००१, फोन : ०७९-५३५६६९२
		अशोकभाई घेलाभाई शाह, २०१, ओएसीस, अंकुर स्कूल सामे, पालडी, अहमदाबाद-७ फोन : ०७९-६६३३०८५ मो. ०७९-३१००७५७९
मुंबई	:	**हिन्दी ग्रंथ कार्यालय,** हीराबाग, सी. पी. टेंक, मुंबई-४००००४, फोन : २३८२६७३९ Website - www.hindibooks.8m.com Email : manish.modi@bol.net.in
मुद्रण	:	**राज प्रिन्टर्स,** पूना
अक्षरांकन	:	**विरति ग्राफिक्स,** अहमदाबाद

પ્રકાશકીય

દર્શનશાસ્ત્રમાં પ્રવેશ કરવા માટે તર્કસંગ્રહ અને મુક્તાવલીનો અભ્યાસ અનિવાર્ય લેખાય. શૈલીની કઠિનતાને લીધે દર્શનશાસ્ત્ર સર્વજનરમ્ય અને સર્વજનગમ્ય નથી. આજે આ બે ગ્રંથોનો અભ્યાસ સાધુસાધ્વીજી ભગવંતોમાં પુષ્કળ પ્રમાણમાં ચાલુ છે. ગુજરાતી વિવરણો અને વિવેચનો દ્વારા આજે આ ગ્રંથોને સરળ બનાવવામાં આવે છે તેમ વરસો પૂર્વે પૂજ્યપાદ **મહામહોપાધ્યાય શ્રીક્ષમાકલ્યાણજીગણિ** ભગવંતે આ ગ્રંથોને સરળ બનાવવા માટે ફક્કિકા રચી હતી. દાર્શનિક ગ્રંથો પર રચાતી વ્યાખ્યા મૂળ પદાર્થને સરળ બનાવતી હોય ત્યારે તે ટીકા તરીકે ઓળખાય છે. ગ્રંથની કઠિન પંક્તિઓને તદ્દન સહેલી ભાષામાં ખોલી આપતી વ્યાખ્યાને ફક્કિકા તરીકે ઓળખવામાં આવે છે. તો ગ્રંથના અઘરા પદાર્થ કે અઘરી પંક્તિના પરામર્શ કે પરિષ્કારને વધુ ઊંડાણમાં લઈ જતી વ્યાખ્યા ક્રોડપત્ર તરીકે ઓળખાય છે. પૂ. ઉપાધ્યાયજી ભગવંતે તર્કસંગ્રહફક્કિકા અને મુક્તાવલી ફક્કિકાની રચના કરી હતી. મુક્તાવલીફક્કિકા આજે ઉપલબ્ધ નથી. તર્કસંગ્રહફક્કિકા ગ્રંથ વિ. સં. ૨૦૧૩માં રાજસ્થાન પુરાતન ગ્રંથમાળાના અન્વયે પ્રકાશિત થયો હતો. તર્કસંગ્રહના કર્તા શ્રી અન્નંભટ્ટ આચાર્યે રચેલી સ્વોપજ્ઞવૃત્તિ પરની ફક્કિકાનો અભ્યાસ ઉપયોગી બને તેવો છે. આજે તર્કસંગ્રહની ન્યાયબોધિની અને પદકૃત્ય આ બે ટીકા અતિશય પ્રચલિત છે. આ ગ્રંથમાં અન્નંભટ્ટની સ્વોપજ્ઞ વ્યાખ્યા દીપિકા અને તેના પરની ફક્કિકા ટીકા સંપાદિત કરવામાં આવી છે. પૂ. મુનિરાજ **શ્રીવૈરાગ્યરતિવિજયજી મ.** દ્વારા આ ગ્રંથનું નવસંપાદન કરવામાં આવ્યું છે.

તપાગચ્છાધિરાજ પૂજ્યપાદ આચાર્ય ભગવંત **શ્રીમદ્ વિજયરામચંદ્રસૂરીશ્વરજી** મહારાજાના વિદ્વાન્ શિષ્યરત્નો પ્રવચનકાર બંધુબેલડી પૂ. મુનિરાજ **શ્રીવૈરાગ્યરતિવિજયજી મ.**, પૂ. મુનિરાજ **શ્રીપ્રશમરતિવિજયજી મ.**ની પ્રેરણાથી **શ્રી શંખેશ્વરપાર્શ્વનાથ આરાધક ટ્રસ્ટ, પુખરાજ રાયચંદ આરાધના ભવન-સાબરમતી** દ્વારા આ ગ્રંથ પ્રકાશનનો સંપૂર્ણ લાભ લેવામાં આવ્યો છે. આ ગ્રંથ જ્ઞાનદ્રવ્યમાંથી પ્રકાશિત થયો છે માટે ગૃહસ્થો તેઓ ઉપયોગ વિવેકપૂર્વક કરશે તેવી વિનંતી છે.

— પ્રવચન પ્રકાશન

प्रकाशकीय वक्तव्य

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला के ९वें रत्नमणि के रूप में 'फक्किका' नामक व्याख्यासमन्वित न्यायशास्त्र का प्रसिद्ध पाठ्यग्रन्थ तर्कसंग्रह प्रकाशित हो रहा है । महाराष्ट्रीय महाविद्वान् अन्नंभट्ट का बनाया हुआ तर्कसंग्रह नामक न्यायशास्त्रविषयक पाठ्यग्रन्थ सुप्रसिद्ध है । संस्कृत न्यायशास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी प्राय: इस ग्रन्थ से सुपरिचित है । इस छोटे से सूत्रात्मक ग्रन्थ पर, ग्रन्थकार ने स्वयं अपनी व्याख्या बनाई है – जिसका नाम तर्कसंग्रह दीपिका है । इस दीपिका पर अनेक विद्वानों ने अनेक व्याख्याएँ लिखी हैं । इनमें प्रस्तुत प्रकाशन में संमीलित फक्किका नामक व्याख्या भी एक है । इस व्याख्या के कर्ता राजस्थान के एक प्रसिद्ध जैन यतिपुङ्गव हैं ।

अन्नंभट्टविरचित तर्कसंग्रह का पठन-पाठन जैसे ब्राह्मण वर्ग में समादरणीय रहा है वैसे ही जैनवर्ग में भी आदरणीय रहा है । प्राय: प्रत्येक न्यायशास्त्राभ्यासी जैन विद्वान का शास्त्रप्रवेश इसी ग्रन्थ के अध्ययन से प्रारम्भ होता है । इस कारण महोपाध्याय क्षमाकल्याण गणि ने प्रस्तुत ग्रन्थ पर यह फक्किका नामक अपनी स्वतन्त्र व्याख्या लिखने का प्रयत्न किया है । यह व्याख्या अभी तक अप्रकाशित रही है अत: इसको प्रकाश में लाने का हमारा विचार हुआ और इसका संपादन कार्य ईस विषय के बहुत ही सुयोग्य और मर्मज्ञ विद्वान् डॉ. जितेन्द्र जेटली को दिया गया ।

डॉ. जेटली न्यायशास्त्र के एक विशिष्ट अभ्यासी हैं । इनने संस्कृत

में बनारस की न्यायाचार्य की परीक्षा दी है और इंग्रेजी में बंबई युनिवर्सिटी की एम. ए. परीक्षा पास की है । वैशेषिक दर्शन के सर्वविश्रुत एवं प्रधानग्रन्थ प्रशस्तपादभाष्य पर जो न्यायकन्दली नामक व्याख्या है उस पर नरचन्द्रसूरि नामक जैनाचार्य ने बहुत ही पांडित्यपूर्ण टिप्पनक लिखे हैं । यह ग्रन्थ अभी तक अप्रसिद्ध और अज्ञातसा है । राजस्थान के प्राचीन नगर जेसलमेर में जो विख्यात जैन ग्रन्थभंडार है उसमें इस टिप्पणक की एक बहुत प्राचीन एवं जीर्ण शीर्ण पोथी सुरक्षित है । उसका विशेष अध्ययन एवं आलोडन करके प्राध्यापक जेटलीने उस विषय में एक महानिबन्ध (थिसीज) लिखकर, बंबई युनिवर्सिटी में पीएच. डी. की डिग्री के लिये उपस्थित किया जिसके फल स्वरूप उक्त युनिवर्सिटी से इनने डॉक्टरेट की उपाधि भी प्राप्त की है । इस प्रकार इनकी अपने अभ्यसनीय विषय में विशिष्ट योग्यता के अनुरूप ही प्रस्तुत ग्रन्थ का संपादन हुआ है यह कहने में मुझे प्रसन्नता होती है । ग्रन्थ, ग्रन्थकार और ग्रन्थ के संपादन के विषय में संपादक विद्वान् ने अपनी प्रस्तावना में, संक्षेप से परन्तु सुन्दर रीति से, सब बातों पर विचार-विमर्श किया है जिससे पाठकों को प्रस्तुत ग्रन्थ का योग्य परिचय प्राप्त हो जायगा।

जहाँ तक हमारा अध्ययन है उसके आधार पर ज्ञात होता है कि महोपाध्याय क्षमाकल्याण गणी राजस्थान के जैन विद्वानों में एक उत्तम कोटि के विद्वान् थे और अन्य प्रकार से अन्तिम प्रौढ पंडित थे । इनके बाद राजस्थान में ही नहीं अन्यत्र भी इस श्रेणिका कोई जैन विद्वान् नहीं हुआ । इनने जैन यतिधर्म में दीक्षित होने बाद, आजन्म अखण्डरूप से साहित्योपासना की, जिसके फलस्वरूप राजस्थानी एवं संस्कृत में छोटी बड़ी सेंकडों ही साहित्यिक रचनाएँ निर्मित हुई । साहित्यनिर्माण के अतिरिक्त तत्कालीन जैन समाज की धार्मिक प्रवृत्ति में भी इनने यथेष्ट योग दिया जिसके फलस्वरूप, केवल राजस्थान में ही नहीं परन्तु मध्यभारत, गुजरात, सौराष्ट्र, विदर्भ, उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगाल जैसे सुदूर प्रदेशो में भी जैन तीर्थो की संघयात्राएँ, देवप्रतिष्ठाएँ और उद्यापनादि विविध धर्मक्रियाएँ संपन्न हुई । इनके पांडित्य और चारित्र्य के गुणों से आकृष्ट हो कर, जेसलमेर, जोधपुर और

बीकानेर के तत्कालीन नरेश भी इन पर श्रद्धा एवं भक्ति रखते थे ऐसा इनके जीवनचरित्र संबन्धी उपलब्ध सामग्री से ज्ञात होता है ।

इसके साथ ग्रन्थकारका एक चित्र-पत्रका भी फोटो दिया जा रहा है जो हमें श्री अगरचन्दजी नाहटा द्वारा प्राप्त हुआ था[१] । राजस्थानी शैली के इस चित्रपत्र में ग्रन्थकार क्षमाकल्याणजी को अपने किसी विशिष्ट भक्तजनके सम्मुख धर्मोपदेश देते हुए चित्रित किये गये हैं । चित्र में अंकित स्थान और व्यक्तियों के प्रभावशाली दृश्य से ज्ञात होता है किसी राजनिवास में बैठ कर किसी राजा को धर्मोपदेश देने के अवसर का भाव इसमें व्यक्त किया जा रहा है ।

इनका स्वर्गवास बीकानेर में हुआ और वहाँ पर इनका उपाश्रय और उसमें सुरक्षित इनका ज्ञानभंडार भी अभी तक विद्यमान है । इनके निजके हाथ के लिखे कई ग्रन्थ और पट्ट, पत्रादि भी अन्यान्य स्थानों में प्राप्त होते हैं जिसमें की कितनीक सामग्री बीकानेर के प्रसिद्ध साहित्यसेवी श्री अगरचन्दजी नाहटा के संग्रह में है[२] जैन समाज का कर्तव्य है कि वह अपने समाज के ऐसे आदर्श और उत्तम विद्वान् की समग्र साहित्यिक सामग्री को प्रकाश में लाने का प्रयत्न करे ।

---

१. मुद्रण की असुविधा के कारण द्वितीयावृत्ति में इसे नहीं लिया है ।

२. हमारे संग्रह में भी इनसे प्रतिष्ठित एवं इनके हस्ताक्षरों से अंकित कुछ ध्यानयोग्य मंत्र गर्भित चित्रपट्ट हैं जो जयपुर के कोठारी जेठमल्ल नामक जैन गृहस्थ की इष्टसिद्धि के लिये प्रदान किये गये हैं । इनमें से एक पार्श्वयंत्र नामक चित्रमय ध्यानपट्ट है उस पर इस प्रकार पंक्ति लिखी हुई है-

सं० १८६४ मिते फाल्गुन सुदि २ दिने श्रीपार्श्वयंत्रमिदं प्रतिष्ठितम् । उ० श्रीक्षमाकल्याणगणिभिः । कोठारी जेठमल्लस्य इष्टसिद्धयेऽस्ति ।

इसी प्रकार की एक लेख पंक्ति 'चिन्तामणियंत्र' नामक ध्यानपट्ट पर अंकित है, यथा-

संवत् १८६४ मिते फाल्गुन सुदि २ दिने । श्रीजयनगरे । श्रीचिन्तामणियंत्रमिदं प्रतिष्ठितं । उ० श्रीक्षमाकल्याणगणिभिः कोठारी जेठमल्लस्य श्रेयोऽर्थम् ॥

विशिष्ट संशोधन

संपादक विद्वान ने अपनी प्रस्तावना में पृष्ठ १७ पर 'अ' नामक हस्तलिखित प्रतिका जो परिचय दिया है उसमें उसका लेखनकाल सं. १८२४ लिखा है - पर पूर्वापर अनुसन्धान करने से ज्ञात होता है कि १८२४ की जगह १८५४ होना चाहिये । लिपि के पढ़ने से भ्रम से ऐसा लिखा गया मालूम होता है । बीकानेर से श्रीयुत अगरचन्दजी नाहटा ने हमारे पास जो अपने नोट भेजे थे उनमें इस ग्रन्थ का रचना समय १८५४ ही लिखा हुआ मिला है ।

मूल ग्रन्थ में पृष्ठ ८३ पर जो एक अन्य प्रति के ४ श्लोक दिये गये हैं उसमें सं. १८२८ में प्रस्तुत फक्किका का रचना समय दिया गया है । वह भी कुछ भ्रान्त ही मालूम होता है और इससे यह भी ज्ञात होता है कि यदि १८२८ में इसकी रचना हुई हो तो फिर, उपर जो १८२४ में 'अ' प्रतिके लिखे जाने का समय है वह कैसे संभव हो सकता है । इस लिए हमारे विचार से १८५४ में ग्रन्थ की रचना होने का श्रीनाहटाजी के नोटों में अंकित है वही ठीक मालूम होता है ।

अनेकान्त विहार
अहमदाबाद.
आषाढ शुक्ल १. वि. सं. २०१३
(९-७-५६)

मुनि जिनविजय
सम्मान्य संचालक
राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर
जयपुर

प्रस्तावना

इस समय भारतीय-दर्शनशास्त्र के ब्राह्मण, बौद्ध और जैन ये मुख्य तीन सम्प्रदाय देखे जाते हैं । यद्यपि चार्वाक दर्शन भी है परन्तु उसका न कोई सम्प्रदाय चलता है और न कोई परम्परा देखने में आती है । सम्भव है कि चार्वाक की परम्परा चली हो परन्तु कालक्रम से लुप्त हो चूकी हो । जो कुछ भी हो, कमसे कम इस समय चार्वाक की परम्परा हमारे सामने नहीं है ।

उपरिनिर्दिष्ट ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सम्प्रदाय के दार्शनिक साहित्य को देखने से यह पता चलता है कि इन तीनों परम्परा के अनुयायी दार्शनिक विद्वान् अपनी परम्परा या सम्प्रदाय के दार्शनिक ग्रन्थों का भी अभ्यास करते थे । स्मरण रहे कि तत्तत्सम्प्रदाय के दार्शनिक विद्वानों का इतर सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों का यह अभ्यास प्रधानतः खण्डनात्मक दृष्टि से था । इस कारण ब्राह्मण सम्प्रदाय के पं. अर्चट, पं. दुर्बेकमिश्र तथा श्रीअभिनवगुप्ताचार्य जैसे थोड़े से दार्शनिक विद्वानों को छोड़कर अन्य दार्शनिक विद्वानों ने इतर सम्प्रदाय के दार्शनिक ग्रन्थो पर टीका टिप्पण आदि लिखे हो अथवा इतर सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपक कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा हो ऐसा उपलब्ध साहित्य से प्रतीत नहीं होता है । यही कारण है कि इस समय कुछ अपवादों को छोड़कर ब्राह्मण सम्प्रदाय के किसी विद्वान् की बौद्ध या जैन सम्प्रदाय के किसी दार्शनिक ग्रन्थ पर टीका या टिप्पण आदि तथा बौद्ध सम्प्रदाय के विद्वान् की किसी ब्राह्मण या जैन दार्शनिक ग्रन्थ पर टीका

टिप्पण आदि उपलब्ध नहीं होते हैं ।

इस सामान्य स्थिति का अपवाद भी है । वह यह कि कुछ जैन विद्वानों के ब्राह्मण तथा बौद्ध सम्प्रदाय के दार्शनिक ग्रन्थो पर लिखे हुवे टीका टिप्पण आदि उपलब्ध होते हैं । ऐसा क्यों हुआ इसकी विशेष चर्चा यहाँ प्रस्तुत नहीं है ।

यद्यपि जैन विद्वानों ने इतर सम्प्रदाय के विविधविषयक साहित्य पर काफी लिखा है परन्तु यहाँ तो हमारा अभिप्राय केवल न्याय-वैशेषिक साहित्य से है । न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय के ग्रन्थों पर जिन जैन विद्वानों की टीका या टिप्पण आदि उपलब्ध होते हैं उन सभी विद्वानों का समय 'कलिकालसर्वज्ञ' उपाधि से ख्यातनामा आचार्य श्रीहेमचन्द्रसूरि के बाद का है । सामान्यतः कालक्रम के अनुसार निम्नलिखित विद्वानों की निम्ननिर्दिष्ट कृतियाँ इस समय भिन्न भिन्न जैन ज्ञानभण्डारों में उपलब्ध होती है ।

कर्ता नाम			कृतिनाम
१. श्रीनरचन्द्रसूरि	....	....	न्यायकन्दलीटिप्पण
२. श्रीअभयतिलकोपाध्याय	....	....	न्यायालङ्कारटिप्पण
३. श्रीराजशेखरसूरि	....	....	न्यायकन्दलीपञ्जिका
४. श्रीजयसिंहसूरि	....	....	न्याय-तात्पर्यदीपिका
५. श्रीशुभविजयगणि	....	....	तर्कभाषा-वार्तिक
६. श्रीगुणरत्नगणि	....	....	तर्क-तरङ्गिणी
७. श्रीजिनवर्धनाचार्य	....	....	जिनवर्धनी (सप्तपदार्थीटीका)
८. श्रीसिद्धिचन्द्रगणि	....	....	(१) सप्तपदार्थीटीका (२) न्यायसिद्धान्तमञ्जरीटीका (३) मङ्गलवाद

९. श्रीक्षमाकल्याण .... तर्कसङ्ग्रहफक्किका
१०. श्रीकर्मचन्द्रयति .... तर्कसङ्ग्रहटीका

इन कृतियों के अलावा और भी कृतियाँ अवश्य होगी परन्तु उन सबका पता जैन सम्प्रदाय के सभी भण्डारों को ठीक देखने से लग सकता हैं । सम्भव है कि कुछ कृतियाँ नष्ट भी हो गई हो ।

यद्यपि यहाँ हमारा सम्बन्ध श्रीक्षमाकल्याण की तर्क-फक्किकासे है फिर भी फक्किकाका विस्तार से परिचय पाने के पूर्व संक्षेप में उन उपलब्ध कृतियों का भी परिचय कराना उपयुक्त होगा ।

१. न्यायकन्दली-टिप्पण

श्रीनरचन्द्रसूरि का यह छोटा सा टिप्पण श्रीधर की न्यायकन्दली पर है । न्यायकन्दली प्रशस्तपादभाष्य की एक विस्तृत टीका है और प्रशस्तपादभाष्य श्रीप्रशस्तमुनि का रचा हुआ वैशेषिक दर्शन के सूत्रों के आधार पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है । और भाष्यों की तरह यह व्यवस्थित रूप से वैशेषिक सूत्रों पर भाष्य नहीं है । इस भाष्य के उपर न्यायकन्दली के अलावा व्योमशिवाचार्य की व्योमवती तथा उदयनाचार्य की किरणावली ये दो टीकायें इस समय उपलब्ध हैं और वे प्रकाशित भी हुई हैं । पञ्जिकाकार श्रीराजशेखर के अनुसार श्रीवत्साचार्य की लीलावती नामकी भी एक टीका प्रशस्तपादभाष्य के ऊपर हैं, परन्तु यह टीका इस समय उपलब्ध नहीं है । उपलब्ध टीकाओं में न्यायकन्दली सबसे बड़ी है । उस पर श्रीनरचन्द्रसूरि का यह टिप्पण यद्यपि केवल २५०० श्लोक प्रमाण का ही है फिर भी अच्छा प्रकाश डालता है । वैशेषिक सिद्धान्तों का इसमें प्रामाणिक निरूपण है ।

(२) न्यायालङ्कार-टिप्पण

उपाध्याय-श्रीअभयतिलकविरचित यह टिप्पण न्यायसूत्र का वात्स्यायनभाष्य, भाष्य का उद्योतकरकृत न्यायवार्तिक, वार्तिक की वाचस्पतिमिश्रकृत तात्पर्यटीका, और तात्पर्यटीका की उदयनाचार्यकृत

तात्पर्यपरिशुद्धि इन चारों पर एक साथ चलता है । यह टिप्पण करीब १२००० (बारह हजार) श्लोक प्रमाण है । यद्यपि अधिकांश में यह टिप्पण तात्पर्यपरिशुद्धि पर ही है तो भी उत्तरोत्तर न्यूनता के क्रम से तात्पर्यटीका, वार्तिक और भाष्य पर भी है । यह टिप्पण ब्राह्मण विद्वान् द्वारा रचित ऐसे ही टिप्पण का अनुगामि जान पड़ता है । श्रीकण्ठीय टिप्पण के ४७ पत्र जैसलमेर के बड़े ज्ञानभण्डार में हैं । न्यायवैशेषिक सिद्धान्तो का निरूपण इसमें भी उपाध्यायजी ने प्रामाणिकता से विशद रूप में किया है ।

(३) न्यायकन्दली-पञ्जिका

षड्दर्शनसमुच्चय के कर्ता श्रीराजशेखरसूरि की पञ्जिका डॉ. पीटर्सन ने खम्भात में श्रीकल्याणचन्द्रसूरि के भण्डार में देखी थी । डॉ. पीटर्सन के रिपोर्ट अनुसार यह प्रति संवत् १४८५ में लिखी हुई कागज की प्रति थी । इसका पूर्ण परिचय डॉ. पीटर्सन ने अपने रिपोर्ट में दिया हैं, परन्तु जांच करने से पता चला है कि इस समय खम्भात में श्रीकल्याणचन्द्रसूरि का कोई भण्डार नहीं है । श्री वेलणकरके जिनरत्नकोश के अनुसार यह कृति विमलगच्छ के उपाश्रय में होनी चाहिये । परन्तु अहमदाबाद में इस उपाश्रयस्थित ज्ञानभण्डार के कच्चे सूचीपत्र में वह निर्दिष्ट नहीं है । खम्भात से यह प्रति कहाँ चली गई और इस समय कहाँ है इसका पता लगाना जरूरी है । पञ्जिका करीब ४००० श्लोक प्रमाण है, अर्थात् श्रीनरचन्द्र के टिप्पण से बड़ी है । कन्दली के सम्पादक स्व. म. म. श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी ने भी डॉ. पीटर्सन के रिपोर्ट में दिये हुवे पञ्जिका के परिचय का उपयोग कन्दली की प्रस्तावना में किया है इससे पता चलता है कि पञ्जिका में काफी उपयुक्त सामग्री मिलने की सम्भावना है ।

(४) न्यायतात्पर्य-दीपिका

श्रीजयसिंहसूरि की यह टीका भी भासर्वज्ञ के 'न्यायसार' नाम के ग्रन्थ पर है । इसे स्व. म. म. डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषणजी ने सन १९१० में सम्पादित करके रॉयल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता (बङ्गाल शाखा) से

प्रकाशित करवाई है । अनेक ज्ञानभण्डारों में यह विजयसिंहसूरि की कृति के नाम से भी उपलब्ध है, परन्तु वस्तुतः श्रीजयसिंहसूरि ही इस कृति के कर्ता का सच्चा नाम है । न्यायसार की अनेक टीकाओं में से यह एक उत्तम कोटिकी टीका है ।

(५) तर्कभाषा-वार्तिक

श्रीशुभविजयगणि का यह वार्तिक पं. श्री केशवमिश्र की 'तर्कभाषा' के ऊपर है । वार्तिक यद्यपि विस्तार में बडा नहीं है फिर भी 'तर्कभाषा' के उपर प्रमाणिक टीका के रूप में है ।

(६) तर्कतरङ्गिणी

श्रीगुणरत्नसूरि की यह 'तर्कतरङ्गिणी' पं. श्रीकेशवमिश्र की 'तर्कभाषा' के ऊपर रची गई पं. श्री गोवर्धनमिश्र की तर्कभाषा प्रकाशिका नाम की टीका के ऊपर एक विस्तृत व्याख्या है । नव्य न्याय से परिपुष्ट यह टीका करीब ७००० श्लोक प्रमाण की है ।

(७) जिनवर्धनी

श्रीजिनवर्धनाचार्य की यह टीका पं. श्री शिवादित्य की सप्तपदार्थी पर है । सप्तपदार्थी की अनेक टीकाओं में जिनवर्धनी प्राचीनतम है और अपना महत्त्व का स्थान रखती है । यह टीका अनेक जैन ज्ञानभण्डारो में उपलब्ध होती है जिससे प्रतीत होता है कि अभ्यासियों में इसका काफी प्रचार था । यद्यपि यह सम्पूर्ण रूप से अभीतक प्रकाशित नहीं है फिर भी इसके कुछ अंश अवतरणरूप में कलकत्ता संस्कृत सिरीज-कलकत्ता से प्रकाशित मितभाषिणी पदार्थचन्द्रिका और सन्दर्भ ये तीन टीकाओं के साथ लिये गये हैं । टीका विशद होने पर भी विस्तृत नहीं है । इसमें सातों पदार्थों का वैशेषिक सिद्धान्तानुसार प्रामाणिक निरूपण किया गया है ।

(८) सप्तपदार्थी टीका, (९) न्यायसिद्धान्तमञ्जरी टीका, (१०) मङ्गलवाद

ये तीनो ग्रन्थ श्रीसिद्धिचन्द्रगणिके हैं । इन ग्रन्थो में मङ्गलवाद ४ पत्र का एक छोटा सा ग्रन्थ है । अवशिष्ट दो टीकायें बडी हैं । मङ्गलवाद को पढ़ने से प्रतीत होता है कि सिद्धिचन्द्र की भाषा में पाण्डित्य की झलक न होते हुवे भी सरलता काफी है । न्यायसिद्धान्तमञ्जरी श्रीचूडामणि भट्टाचार्य का प्रसिद्ध ग्रन्थ है ।

(११) तर्कसंग्रह-फक्किका

श्रीक्षमाकल्याण की इस कृतिका विस्तार से परिचय पाने के पूर्व श्रीकर्मचन्द्रयति की टीका का थोड़ा सा परिचय किया जाय ।

(१२) तर्कसङ्ग्रह-टीका

श्रीकर्मचन्द्रयति की यह टीका तर्कसंग्रह के ऊपर एक स्वतन्त्र टीका है । जिनरत्नकोष जैसे हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्र में इसका उल्लेख नहीं है क्योंकि यह जोधपुर राज्य के महाराजा के निजी पुस्तकभण्डार में है । इस टीका की दूसरी प्रति आग्रा के जैन भण्डार में है । जोधपुर की प्रतिका प्रथम पत्र गायब है, किन्तु आग्रा में वह पूर्ण रूप से है वैसा श्री अगरचन्दजी नाहटा से सुना गया है ।

(१३) तर्कसंग्रह की इस टीका के अलावा लींबडी के स्थानकवासियों के भण्डार में तर्कसंग्रह की और भी एक टीका है । टीका अपूर्ण है और लेखक का नाम नहीं है, परन्तु मङ्गलश्लोक का आरम्भ 'प्रणिपत्य जिनं पार्श्वम्' पद से होता है इस लिये टीकाकार जैन है इसमें सन्देह नहीं । टीका, कर्ता ने नहीं परन्तु लेखक ने अपूर्ण रक्खी है ।

इतने संक्षिप्त विवरण के पश्चात् अब श्रीक्षमाकल्याण की फक्किका का विस्तृत परिचय करें । टीका के परिचय के पूर्व यह उचित है कि श्रीक्षमाकल्याण के जीवनचरित्र का भी संक्षेप में परिचय करें ।

श्रीक्षमाकल्याणजी का जन्म ओशवंश के मालुगोत्र में केसरदेसर नाम के गाँव में संवत् १८०१ में हुआ था । सं. १८१२ में अपनी ११ वर्ष की उम्र में ही उन्होंने आचार्य श्रीअमृतधर्मजी से दीक्षा ग्रहण की । श्रीक्षमाकल्याणजी के दो विद्यागुरु थे, म. म. श्रीरत्नसोमजी तथा उपाध्याय श्रीरामविजयजी । इनके अनेक शिष्यों में से दो प्रधान शिष्यों के दो अलग भण्डार बिकानेर में हैं । अपने जीवनकाल में उनके विहार का अधिक समय बिहारप्रान्त के पटना आदि स्थलो में काफी बीता है । वि. सं. १८७२ में कालधर्म को प्राप्त हुवे । इनका विस्तृत जीवनचरित्र 'श्रीक्षमाकल्याणचरित' नाम के ग्रन्थ में है । इसकी रचना जोधपुर महाराजा के निजी पुस्तकभण्डार के उपाध्यक्ष पं. श्रीनित्यानन्दजी ने की है । सुन्दर संस्कृत श्लोको में श्रीक्षमाकल्याणजी का पूर्ण जीवनवृत्तान्त दिया गया है । श्रीक्षमाकल्याणजी के पट्टशिष्यों की परम्परा में श्रीसागरजी महाराज इस समय बिकानेर में हैं ।

तर्कसंग्रह-फक्किका के अलावा इनकी और २६ कृतियाँ भी है । इनमें मुक्तावलीफक्किका का भी नाम है । यह सूचीपत्र सं. १८९० में उनके किसी शिष्य ने बनाया है । इस सूचीपत्र में निर्दिष्ट सभी कृतियाँ अभी उपलब्ध हैं सिवा मुक्तावली-फक्किका । बिकानेर के या अन्य किसी स्थल के किसी भी ज्ञानभण्डार में मुक्तावली-फक्किका उपलब्ध नहीं है । इतनी जलदी ऐसी कृतिका नष्ट हो जाना सम्भव नहीं है । अधिक सम्भव यही है कि मुक्तावली-फक्किका का नाम गलती से सूचीपत्र में समाविष्ट किया गया हो ।

श्रीक्षमाकल्याणजी की तर्कसंग्रह-फक्किका श्री अन्नंभट्टजी के तर्कसंग्रह की स्वोपज्ञ 'दीपिका' टीका की एक सरल टीका है । मूल तर्कसंग्रह के ऊपर और दीपिका के ऊपर भी अनेक टीकायें लिखी गई हैं जिनका सूचीपत्र परिशिष्ट 'अ' में दिया गया है ।

दीपिका की प्रकाशित टीकाओ में श्रीनीलकण्ठशास्त्री की नीलकण्ठी अधिक प्रसिद्ध है । फक्किका अभीतक प्रकाशित न होने से अप्रसिद्ध है, परन्तु करीब प्रत्येक ज्ञानभण्डार में तथा राजकीय हस्तलिखित पुस्तकों के संग्रहों में फक्किका की प्रति उपलब्ध होती है, इससे प्रतीत होता है कि

अभ्यासियों में फक्किका भी कम प्रचलित नहीं थी । जैन ज्ञानभण्डारों की प्रतियाँ देखने से पता चलता है कि प्रायः सभी जैन अभ्यासी तर्कसंग्रह का अभ्यास फक्किकाकी सहायता से करते थे इसका कारण फक्किकाकारकी पदार्थ को समझाने की शैली है ।

फक्किका को पढ़ने से तुरन्त प्रतीत होता है कि तर्कसंग्रह-दीपिका के हृदय को फक्किकाकारने अत्यन्त सरल रीति से खोल करके अभ्यासियों के सामने रख दिया है । नव्यन्यायपरिप्लुत चर्चाओं में निरर्थक घसीटे बिना जिस तरह तर्कसंग्रहकार और दीपिकाकार ने प्राथमिक अभ्यासियों के सामने न्यायवैशेषिक के पदार्थ और सिद्धान्तों को सरल और विशद रूप से रक्खा है उसी पद्धति का आश्रय फक्किकाकार ने भी लिया है और दीपिका को अत्यन्त सरलता से विशद करने का पूर्ण प्रयत्न किया है । आरम्भ में मङ्गलवाद के प्रथम वाक्य को पढ़ने से शायद किसी अभ्यासी को ऐसा लगे कि यह टीका भी और टीका की भाँति मूलग्रन्थ से कठिन होगी, परन्तु आगे बढ़ते ही यह धारणा दूर हो जाती है । फक्किकाकार जैन सम्प्रदाय के होते हुवे भी उन्होंने जो शिष्ट का लक्षण मङ्गलवाद में दिया है और उसका जो पदकृत्य भी किया है वह कर्ता की सिद्धान्तविषयक प्रामाणिकता का द्योतक है । दीपिकाकार ने जो लक्षण दिये हैं और स्वयं भी जो लक्षण देते हैं उन सभी लक्षणों का पदकृत्य फक्किकाकार ने काव्य की खण्डान्वयपद्धति का अनुसरण करते हुवे किया है । इस कारण से फक्किकाकारने तर्कसंग्रह और दीपिका को समझाने में काफी सफलता प्राप्त की है । फक्किकाकार की इस शैली के कारण फक्किका की भाषा में नव्य न्याय की थोड़ी सी छांट होने पर भी यह टीका विद्यार्थी को समझने में कठिन नहीं लगती है इतना ही नहीं किन्तु नव्यन्याय में विद्यार्थी का सहज प्रवेश भी करा देती है ।

तर्कसंग्रहकार ने मूल में अचर्चित जिन विषयों की दीपिका में चर्चा की है उन विषयों को फक्किकाकार ने भी दीपिका के आशयानुसार अच्छी तरह समझाया है । उदाहरणार्थ मङ्गलवाद, पदार्थसंख्याविचार, लक्षण का लक्षण इत्यादि है । उसी तरह दीपिकाकार के प्रामाण्यविचार, विधिनिरूपण जैसे

स्वतन्त्र विषयों की भी चर्चा फक्किकाकार ने सरलता से की है । दूसरी ओर जहाँ दीपिकाकार ने मूल की स्पष्टता के कारण अनावश्यक विस्तार नहीं किया है वहाँ फक्किकाकार ने भी टीका का निरर्थक विस्तार नहीं किया है । उदाहरणार्थ–गुणविभाग, कर्मविभाग, तथा सामान्यविभाग जैसे विषयों की चर्चा फक्किकाकार ने नहीं की है । इस तरह मूलग्रन्थ में अस्पष्ट किन्तु आवश्यक ऐसे सभी विषयों की अनावश्यक चर्चा न करके फक्किकाकारने टीका कैसी होनी चाहिये उसका एक अच्छा आदर्श रक्खा है ।

यद्यपि फक्किका की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ भिन्नभिन्न ज्ञानभण्डारों में उपलब्ध हैं फिर भी मैंने इस सम्पादन में अत्यन्त प्राचीन ऐसी बिकानेर के भण्डारों की तीन प्रतियों का और अर्वाचीन प्रतियों में अहमदाबाद के एक भण्डार की प्रतिका उपयोग किया है । पाठान्तर अधिक न होने से अन्य सब प्रतियों का उपयोग जरूरी नहीं समझा है । इस सम्पादन में उपयोग की हुई प्रतियों का परिचय नीचे दिया जाता है ।

(१) 'अ'–यह प्रति बिकानेर के अबीरचन्द भण्डार की है । इसका सूचीपत्र क्रमाङ्क ८३, पत्रसंख्या २६, और प्रत्येक पत्रकी एक ओर ११ पंक्ति है तथा प्रत्येक पंक्ति में ४५ अक्षर हैं । प्रतिका नाप १०''×४॥'' है ।

उपयुक्त प्रतियों में यह प्रति प्राचीनतम है । अक्षर स्पष्ट हैं । संवत् १८२४ में अर्थात् श्रीक्षमाकल्याणजी के जीवनकाल दरम्यान में ही लिखी गई है । यह प्रति उपयुक्त छोटे छोटे टिप्पणों से भरपूर है इससे ऐसा अनुमान सहज होता है कि यह प्रति कोई शिष्य ने श्रीक्षमाकल्याणजी से पढ़ी हो । इतने टिप्पण अन्य किसी प्रति में नहीं है । फिर भी इस प्रति में कहीं कहीं पाठ भ्रष्ट हो गये हैं । प्रति शुद्ध है इस लिये आदर्श भी इसी प्रतिका रक्खा है । फिर भी अन्य प्रतियों के शुद्धतर पाठ मूलग्रन्थ में समाविष्ट किये गये हैं । प्रतिलेखक का नाम स्थान और तिथि भी इसमें दिये हैं यह इस प्रति की विशेषता है ।

(२) 'दा'–यह प्रति बिकानेर के दानसागर भण्डार की है । इसका

सूचीपत्र क्रमाङ्क १८०६, पत्रसंख्या १४, प्रत्येक पत्र की एक ओर पं. १५ तथा प्रत्येक पंक्ति में अक्षर ५३ हैं । प्रति का नाप १०''×४।'' है । अक्षर छोटे होने पर भी स्पष्ट हैं ।

उपयुक्त प्राचीन प्रतियो में यह भी एक प्राचीन प्रति है । अक्षर स्पष्ट हैं । यह भी संवत् १८२८ में लिखी गई है इसका पता चार श्लोक के कलापक के अन्तिम श्लोक से चलता है । थोड़े से टिप्पण इस प्रति में भी हैं ।

(३) 'म'–यह प्रति भी बिकानेर के महिमाभक्ति भण्डार की है । इसका सूचीपत्र क्रमाङ्क १५०७, पत्रसंख्या २५, प्रत्येक पत्र की एक ओर पं. १३ और प्रत्येक पंक्ति में अक्षर ३८ हैं । अक्षर बड़े और स्पष्ट हैं । प्रति का नाप १०''×४'' है ।

यह प्रति सम्भव है कि 'दा' प्रति की नकल हो. क्योंकि जो 'दा' प्रति के टिप्पण हैं वही इस प्रति के भी हैं । नकल होने पर भी यह अर्वाचीन नहीं है । अन्त में इस प्रति में 'दा' प्रति से 'इति उपाध्याय श्रीक्षमाकल्याणगणिविरचिता तर्कसंग्रहसवृत्तिफक्किका समाप्ता' इतना अंश अधिक है । प्रतिलेखक का नाम नहीं है । यह भी सम्भव है कि 'म' की नकल 'दा' हो । जो कुछ भी हो 'दा' और 'म' में कोई विशेष फर्क नहीं है । कलापक के अन्त में दोनो में 'सुरतबिन्दरे इति शेषम्' दिया है ।

(४) 'वि'–यह प्रति अहमदाबाद के विजयदानसूरि ज्ञानमन्दिर के संग्रह की है । इसका सूचीपत्र क्रमाङ्क ८८० है, पत्रसंख्या १७, प्रत्येक पत्र की एक ओर पंक्ति १५ तथा प्रत्येक पंक्ति में अक्षर ४५ हैं । अक्षर मध्यम और स्पष्ट है । प्रति का नाप ११॥''×५'' है ।

उपयुक्त प्रतियो में यह सबसे अर्वाचीन है । सम्भव है कि 'दा' और 'म' प्रति में से किसी एक की नकल हो, क्योंकि चार श्लोक का कलापक पूर्ण दिया गया है । 'सुरत बिन्दरे इति शेषम्' इतना नहीं है । इसकी जगह 'लि. व्यास मोवनलाल नागोर' इतना अंश है । अर्थात् नागोर के व्यास

मोवनलाल ने यह नकल की है । नकल अत्यन्त शुद्ध है । सबसे प्रथम यही प्रति प्राप्त हुई थी ।

'अ' प्रति के टिप्पण के सामान्य अशुद्ध पाठ शुद्ध कर दिये गये हैं, फिर भी महत्व की अशुद्धियाँ ( ) इस तरह के चिह्ने अन्दर रक्खी हैं । चारो प्रतियो में जो पाठ गिर गये हैं और अर्थ की दृष्टि से जो आवश्यक हैं वे [ ] इस तरह के चिह्न के अन्दर रक्खे गये हैं ।

मैंने मूल और दीपिका के लिये स्वामिनारायण सम्प्रदाय के श्रीकृष्णवल्लभाचार्य द्वारा दीपिका के उपर अपनी किरणावली तथा श्रीगोवर्धनमिश्र की न्यायबोधिनी और श्रीचन्द्रजसिंह की पदकृत्य टीका समेत सम्पादित तर्कसंग्रह के खिस्ताब्द १९३७ के द्वितीय संस्करण का उपयोग किया है । काशी से पं. छन्नूलाल ने इसे प्रकाशित किया है । अर्थ दृष्टि से मूल और दीपिका के भिन्न भिन्न विद्वानों के सम्पादित संस्करणों के पाठान्तरों में विशेष फर्क न होने से मूल और दीपिका के पाठान्तर नहीं दिये हैं । प्रकरणों की योजना पाठकों की सुविधा की दृष्टि से स्वतन्त्र रूप से मैंने की है । पाठकों की सुविधा की दृष्टि से ही फक्किका में आवश्यकतानुसार 'सन्धि' को छोड़कर पद रक्खे हैं । इसी तरह सम्पादन करते समय पाठकों की सुविधा रखने का यथाशक्ति पूर्ण प्रयत्न किया गया है ।

कुछ मेरी अनवधानी से और कुछ प्रेस की गलती से जो अशुद्धियाँ रह गई हैं वे सब शुद्धिपत्र में दी गई हैं, फिर भी कोई ऐसी अशुद्धि रह गई हो जो शुद्धिपत्र में न हो उसे जो पाठक सूचित करेंगे उनका आभारी रहूँगा ।

इस सम्पादन की प्रेरणा के लिये गुरुवर्य पं. सुखलालजी, मुनिश्री पुण्यविजयजी, पू. मुनिश्री जिनविजयजी तथा पू. श्री रसिकलालजी परीख का विशेष आभारी हूँ । इसके अतिरिक्त बिकानेर की तीनों प्रतियों के व्यवस्थित रूप से पाठान्तर तैयार करने के लिये मित्रवर्य पं. श्री नगीनदास केवलशी शाह का भी अत्यन्त ऋणी हूँ । उनकी इस सहाय के बिना फक्किका का

ऐसा सम्पादन इतनी शीघ्रता से शायद न होता । जिन गुरुओं की विद्या के प्रभाव से और आशीर्वादों से न्याय और वैशेषिक-विषयक ग्रन्थों के सम्पादन में यत्किञ्चित्सामर्थ्य प्राप्त हुआ है इसके लिये उन पूजनीय गुरुओं का आजीवन ऋणी हूँ । प्रूफ-संशोधन में विद्वद्वर्य श्री केशवराम शास्त्रीजी का भी आभारी हूँ । संक्षेप में इतनी सहायता होने पर भी यदि सम्पादन में कुछ त्रुटि रह गई हो वह मेरी ही है । यदि विद्वान पाठकवर्ग उसे सूचित करेगा तो भविष्य के अन्य सम्पादनों में ऐसी त्रुटियों को दूर करने का पूर्ण प्रयत्न करूँगा ।

राजस्थान के एक विद्वान् की इस विशिष्ट कृति को, राजस्थान सरकार द्वारा नूतन प्रस्थापित पुरातत्त्व मन्दिर के सम्मान्य संचालक आ० श्री जिनविजयजी ने अपनी 'राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला' में प्रकाशनार्थ स्वीकृत कर, मुझे जो प्रोत्साहन दिया है उसके लिये अन्त में मैं पुनः अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ । प्रियन्तां गुरुवः ।

१७-३-५२ **जितेन्द्र जेटली**

अहमदाबाद

विषयानुक्रमणिका

मङ्गलम्	१
पदार्थविभागः	५
गुणविभागः	९
कर्मविभागः	१०
सामान्यविभागः	१०
विशेषविभागः	१०
समवायविभागः	१०
अभावविभागः	११
पृथिवीनिरूपणम्	११
जलनिरूपणम्	१५
तेजोनिरूपणम्	१५
वायुनिरूपणम्	१७
जगत उत्पत्तिविनाशनिरूपणम्	१८
आकाशनिरूपणम्	२०
कालनिरूपणम्	२०
दिङ् निरूपणम्	२०
आत्मनिरूपणम्	२१
मनोनिरूपणम्	२२
रूपनिरूपणम्	२३
रसनिरूपणम्	२५
गन्धनिरूपणम्	२५
स्पर्शनिरूपणम्	२५
पाकजगुणनिरूपणम्	२५

सङ्ख्यानिरूपणम्	२६
परिमाणनिरूपणम्	२६
पृथक्त्वनिरूपणम्	२७
संयोगनिरूपणम्	२७
विभागनिरूपणम्	२७
गुरुत्वनिरूपणम्	२८
परापरत्वनिरूपणम्	२८
द्रवत्वनिरूपणम्	२९
स्नेहनिरूपणम्	२९
शब्दनिरूपणम्	२९
बुद्धिनिरूपणम्	३०
यथार्थानुभवलक्षणम्	३१
अयथार्थानुभवलक्षणम्	३२
यथार्थानुभवविभागः	३२
प्रमाणविभागः	३३
करणलक्षणम्	३३
कारणलक्षणम्	३३
कार्यलक्षणम्	३४
कारणविभागः	३५
समवायिकारणलक्षणम्	३५
असमवायिकारणलक्षणम्	३५
निमित्तकारणलक्षणम्	३६
प्रत्यक्षपरिच्छेदः	३६
प्रत्यक्षलक्षणम्	३६
प्रत्यक्षविभागः	३६
इन्द्रियार्थसन्निकर्षविभागः	३७
संयोगसन्निकर्षनिरूपणम्	३८
संयुक्तसमवायसन्निकर्षनिरूपणम्	३८
संयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्षनिरूपणम्	३८
समवायसन्निकर्षनिरूपणम्	३८
समवेतसमवायसन्निकर्षनिरूपणम्	३९

विशेषणविशेष्यभावसन्निकर्षनिरूपणम् ३९
अनुमानपरिच्छेदः
अनुमितिलक्षणम् ४०
परामर्शलक्षणम् ४२
व्याप्तिलक्षणम् ४२
पक्षधर्मताविभागः ४३
अनुमानविभागः ४४
स्वार्थानुमाननिरूपणम् ४४
परार्थानुमाननिरूपणम् ४५
अवयवविभागः ४६
अनुमितिकरणनिरूपणम् ४६
लिङ्गविभागः ४८
अन्वयव्यतिरेकिलक्षणम् ४८
केवलान्वयिलक्षणम् ४९
केवलव्यतिरेकिलक्षणम् ४९
पक्षसपक्षविपक्षलक्षणम् ५०
हेत्वाभासविभागः ५१
सव्यभिचारलक्षणम् ५२
विरुद्धलक्षणम् ५३
सत्प्रतिपक्षलक्षणम् ५३
असिद्धलक्षणम् ५३
बाधितलक्षणम् ५५
उपमानपरिच्छेदः ५७
शब्दपरिच्छेदः ५७
शब्दशक्तिलक्षणम् ५८
वाक्यार्थज्ञानहेतुनिरूपणम् ६२
वाक्यविभागः ६३
शब्दस्य करणत्वनिरूपणम् ६४
अयथार्थानुभवविभागः ७०
संशयलक्षणम् ७०
विपर्ययलक्षणम् ७०

तर्कलक्षणम् ७१
स्मृतिविभागः ७१
सुखनिरूपणम् ७१
दुःखनिरूपणम् ७१
धर्माधर्मनिरूपणम् ७२
बुद्ध्यादीनामात्ममात्रविशेषगुणकथनम् ७२
संस्कारविभागः ७२
वेगनिरूपणम् ७२
भावनानिरूपणम् ७२
स्थितिस्थापकनिरूपणम् ७३
कर्मनिरूपणम् ७३
सामान्यनिरूपणम् ७४
विशेषनिरूपणम् ७४
समवायनिरूपणम् ७४
अभावनिरूपणम् ७५
विधिनिरूपणम् ७९

तर्कसङ्ग्रहः

फक्किका

फक्किकासमन्वित-दीपिकाव्याख्यासमेतः

तर्कसङ्ग्रहः

[मङ्गलम्]

निधाय हृदि विश्वेशं विधाय गुरुवन्दनम् ।
बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसङ्ग्रहः ॥

[दीपिका]

विश्वेश्वरं साम्बमूर्तिं प्रणिपत्य गिरां गुरुम् ।
टीकां शिशुहितां कुर्वे तर्कसङ्ग्रहदीपिकाम् ॥

चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थं शिष्टाचारानुमित-श्रुतिबोधितकर्तव्यताकम् इष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मङ्गलं शिष्य-शिक्षार्थं निबध्नंश्चिकीर्षितं ग्रन्थादौ प्रतिजानीते-निधायेति ।

ननु मङ्गलस्य समाप्तिसाधनत्वं नास्ति, मङ्गले कृतेऽपि कादम्बर्यादौ निर्विघ्नपरिसमाप्त्यदर्शनात्, मङ्गलाभावेऽपि किरणा-वल्यादौ समाप्तिदर्शनाद् अन्वयव्यतिरेकव्यभिचाराद् इति चेत् ? न, कादम्बर्यादौ विघ्नबाहुल्यात् समाप्त्यभावः, किरणावल्यादौ तु ग्रन्थाद् बहिरेव मङ्गलं कृतम्, अतो न व्यभिचारः ।

ननु मङ्गलस्य कर्तव्यत्वे किं प्रमाणम् इति चेत् ? न, शिष्टा-चारनुमितश्रुतेरेव प्रमाणत्वात् । 'समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्' इति

श्रुतेः । तथाहि-मङ्गलं वेदबोधितकर्तव्यताकम् अलौकिकाऽविगीत-शिष्टाचारविषयत्वात्, दर्शादिवत् । भोजनादौ व्यभिचारवारणाय अलौकिकेति । रात्रिश्राद्धादौ व्यभिचारवारणाय अविगीतेति । शिष्टपदं स्पष्टार्थम् । 'न कुर्यान्निष्फलं कर्म' इति जलताडनादेरपि निषिद्धत्वाद् इति ।

तर्क्यन्ते=प्रतिपाद्यन्ते इति तर्काः द्रव्यादिसप्तपदार्थाः, तेषां सङ्ग्रहः=सङ्क्षेपेण स्वरूपकथनं क्रियते इत्यर्थः । कस्मै प्रयोजनाय ? इत्यत आह-सुखबोधायेति । सुखेन=अनायासेन बोधः=पदार्थज्ञानं तस्मै इत्यर्थः । ननु बहुषु तर्कग्रन्थेषु सत्सु किमर्थमयमपूर्वग्रन्थः क्रियत इत्यत आह-बालानामिति । तेषामति-विस्तृतत्वाद् बालानां ततः सुखेन बोधो न भवतीत्यर्थम् इत्यर्थः । ग्रहणधारणपटुर्बालः, न तु स्तनंधयः । किं कृत्वा क्रियते इत्यर्थ (न) आह-निधायेति । विश्वेशं=जगन्नियन्तारं शिवं हृदि निधाय=नितरां स्थापयित्वा, सर्वदा तद्ध्यानपरो भूत्वा इत्यर्थः । गुरूणां=विद्यागुरूणां वन्दनं=नमस्कारं विधाय=कृत्वा इत्यर्थः ।

[फक्किका]

प्रणिपत्य जिनं पार्श्वं विश्वभावप्रकाशकम् ।
एकत्रीकृत्य लिख्यन्ते तर्कसङ्ग्रहफक्किकाः ॥

सत्येकस्मिन्नपि बाधके साधकसहस्रस्याप्यकिञ्चित्करत्वात् कार्यमात्रं प्रति प्रतिबन्धकाभावो हेतुरिति राद्धान्तः । यथा दाहोत्पादकृतवह्निसंयोगादि-रूपसकलकारणसत्त्वेऽपि मणिरूपप्रतिबन्धकसत्त्वे दाहोत्पत्तिर्न जायते इति कृत्वा दाहत्वावच्छिन्नं प्रति मणित्वावच्छिन्नाभावत्वेन कारणता, तथाऽत्रापि समाप्ति-जनकबुद्धिप्रतिभादिरूपकारणसत्त्वेऽपि दुरितादृष्टरूपप्रतिबन्धकसत्त्वे समाप्तिर्न भवतीति कृत्वा 'समाप्तिप्रतिबन्धकीभूतदुरितनाशार्थं मङ्गलाचरणमावश्यकम्' इति मन्वानो ग्रन्थकारो ग्रन्थादौ मङ्गलमाचरति-**निधाये**ति ।

अनेन पद्येन एतत्त्रयं दर्शितमस्ति । तद्यथा-मङ्गलं १, तस्य शास्त्रे निबन्धनं २, प्रतिज्ञा च ३ । तत्र तावन्मङ्गलं निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थं, निबन्धनं तु शिष्यशिक्षार्थं, यतः शिष्यैरपि एवं ज्ञायेत शास्त्रादौ मङ्गलं कर्तव्यमिति । अन्यथा तेषां तद् ज्ञानं न स्याद् इति भावः । प्रतिज्ञा च शिष्यावधानार्थम् अवधानं =शुश्रूषा विषयान्तरान्मनोविच्छित्तिश्च ।

एतदेवाह-**चिकीर्षितस्ये**त्यादि । सुगमम् ।

शिष्टेत्यादि । शिष्टाभिचारेण अनुमिता या श्रुतिस्तया बोधिता ज्ञापिता कर्तव्यता यस्य तद् इति समासः । अयमर्थः-'निर्विघ्नग्रन्थपरिसमाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत् यद्वा विघ्नध्वंसकामो मङ्गलमाचरेद्' इत्येषा श्रुतिः शिष्टाचारेणानुमीयते यतः शिष्टाचारः श्रुतिमूलको भवति । किं नाम शिष्टत्वम् ? वेदत्वोपाधिना स्वारसिकवेदप्रमाण्याभ्युपगन्तृत्वं शिष्टत्वम् । ***ननु***-गौरवाल्लाघवं न्याय्यम्, यदुक्तम्-

प्रक्रिया गौरवं यत्र तं न पक्षं सहामहे ।
प्रक्रियालाघवं यत्र तं पक्षं रोचयामहे ॥१॥ इति ।

अत एतावल्लक्षणं किमर्थम् ? ***तत्रोच्यते***-'गन्तृत्वं शिष्टत्वम्' लक्षणं चेदुच्यते तर्हि गतिमत्यश्वादौ अतिव्याप्तिः, तद्वारणाय 'उप' इति पदमुपात्तम् । तत 'उपगन्तृत्वं शिष्टत्वम्' । अथ एवमुच्यते चेद् गवा सह वत्सो गच्छति इत्यत्र वत्सेऽतिव्याप्तिः, तद्वारणाय 'अभि' इति पदमुपात्तम् । ततः 'अभ्युपगन्तृत्वं शिष्टत्वम्' । एवमपि यत्किञ्चित्कार्याभ्युपगन्तृम्लेच्छादौ अतिव्याप्तिः, तद्वारणाय प्रामाण्येति । अथापि प्रत्यक्षप्रमाणमात्रस्वीकारकचार्वाकादौ अतिव्याप्तिः, तद्वारणाय वेदेति । ततोऽपि ताडितबौद्धादौ अतिव्याप्तिः, तद्वारणाय स्वारसिकेति । तथाऽपि शङ्कितबौद्धादौ अतिव्याप्तिः, तद्वारणाय वेदत्वोपाधिनेति पदमुपात्तम् । अतः परं न क्वापि अतिव्याप्त्यादिदोषसम्भव इति ।

ननु मङ्गलस्य समाप्तिसाधनत्वमित्यादि । ***ननु*** मङ्गलस्य कारणता विघ्नध्वंसं प्रति समाप्तिं प्रति वा ? ***अत्रोच्यते***-प्राचां मते तु उभयं प्रति कारणताऽस्ति । नव्यास्तु एवमाहुः-विघ्नध्वंस एव मङ्गलस्य फलं, समाप्तिस्तु विघ्नसंसर्गाभावादिकारणकलापजन्या इत्यादि । अत्र हि समाप्तिं प्रति

यावद्विघ्नोत्सारणसमर्थमङ्गलत्वेन कारणता बोध्या तेन (कादम्बर्यादौ) मङ्गलत्वेऽपि तथाविधमङ्गलासत्त्वान्न परिसमाप्तिः । यतो 'यत्र यत्र कारणतावच्छेकावच्छिन्नं कारणं भवेत् तत्र तत्रैव कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नं कार्यं स्यान्नान्यत्र' । कारणतावच्छेदकेत्यादेस्तु अयमर्थः-कारणं मङ्गलम्, कारणता मङ्गले, कारणतावच्छेदकं मङ्गलत्वम्, तदवच्छिन्नं कारणं मङ्गलमेव । एवं कार्यं समाप्तिः, कार्यता समाप्तौ, कार्यतावच्छेकं समाप्तित्वम्, तदवच्छिन्नं कार्यं समाप्तिरेवेति ।

मङ्गलं वेदबोधितेत्यादि । अत्रानुमाने मङ्गलं पक्षः, वेदबोधित कर्तव्यताकत्वं साध्यते, अलौकिकाविगीतशिष्टाचारविषयत्वं हेतुः, दर्शादियागो दृष्टान्त इति । वेदेन बोधिता कर्तव्यता यस्य तद् वेदबोधितकर्तव्यताकम् । अलौकिकोऽविगीतश्च यः शिष्टाचारः तद्विषयत्वं, तस्मात् । अलौकिकत्वं नाम लौकिकभिन्नत्वम् । लौकिकत्वं च वेदातिरिक्तप्रमाणप्रमापितबलवदनिष्टानुबन्धीष्टसाधनताकत्वम् । अविगीतत्वं वेदानिषिद्धत्वम्, तद्भिन्नत्वं विगीतत्वम्। **शिष्टपद**मित्यादि । ***अत्राहुः केचिद्*** 'जलताडनादौ निष्फले कर्मणि व्यभिचारवारणाय शिष्टपदमुपात्त'मिति । ***तन्न,*** अविगीतपदेनैव तत्र व्यभिचारवारणात् । जलताडनं तावद् विगीतं भवति, ''**न कुर्यान्निष्फलं कर्म**'' इति वचनात् । मङ्गललक्षणं त्विदम्-विघ्नभिन्नत्वे सति विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाभावभिन्नत्वे सति प्रारिप्सितविघ्नध्वंसासाधारणकारणत्वं मङ्गलत्वम् । विघ्ने विघ्नध्वंसप्रतिबन्धकाभावे च अतिव्याप्तिवारणाय पदद्वयम् । वृष्टिप्रतिबन्धकविघ्नध्वंसासाधारणकारणे कारीरीयागे अतिव्याप्तिवारणाय प्रारिप्सितेति । दण्डादौ अतिव्याप्तिवारणाय विघ्नध्वंसेति । दिक्कालादौ अतिव्याप्तिवारणाय असाधारणेति । किंनाम प्रतिबन्धकत्वम् ? कारणीभूताभावप्रतियोगित्वं प्रतिबन्धकत्वम् । तथाहि-दाहोत्पत्तेः कारणीभूतो यथा तृणवह्निसंयोगः, तथाऽभावो=मण्यभावः तत्प्रतियोगित्वं मणौ, एवमन्यत्रापि वाच्यम् ।

हृदीति । हृच्छब्दस्य मनोरूपः पर्यायः, 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरकोशात् । उक्तं च मुक्तावल्याम्-[का०-८१]

शक्तिग्रहव्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति, सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥१॥ इति।

विश्वेशमिति । विश्वस्य ईशो विश्वेशः । अत्र विश्वस्येति लुप्तषष्ठ्या निरूपितत्वम् अर्थः । ईशधातोः ऐश्वर्यम् अर्थः । पचाद्यचः आश्रयरूपोऽर्थः । जगन्नियन्तृत्वरूपम् ऐश्वर्यमत्र बोध्यम् । विश्वनिरूपितैश्वर्याश्रय इत्यर्थः । ***ननु*** अणुरूपे मनसि सकलजगदाधारतया महीयस ईश्वरस्य अवस्थानं कथं सङ्गच्छते अल्पीयसि आधारेऽतिमहत आधेयस्यावस्थानासम्भवाद् इति चेत् ? ***मैवम्,*** निधायेत्यस्य 'सर्वदा ध्यात्वा' इत्यर्थाश्रयणाद् न दोषः । **विधाये**त्यादि । हितोहितप्राप्तिपरिहारोपदेष्टारो गुरवस्तेषां वन्दनं नमस्कारं स्वावधिकोत्कर्षवत्ताज्ञानं विधाय कृत्वा इत्यर्थः हृदधिकरणक-विश्वेशकर्मक-निधानोत्तरकालीनगुरु-सम्बन्धिवन्दनकर्मकविधानोत्तरकालीनबालसम्बन्धिसुखबोधफलक-मत्कृति-जन्यफलाश्रयः तर्कसङ्ग्रहः इति शाब्दबोधः ॥ इति प्रथमपदार्थसङ्कोचः ॥

[इति मङ्गलवादः] ।

[पदार्थविभागः]

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाऽभावाः सप्त पदार्थाः ।

पदार्थान् विभजते-द्रव्येति । 'पदस्यार्थः पदार्थः' इति व्युत्पत्त्या अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम् इति लभ्यते । नन्वत्र विभागादेव सप्तत्वे लब्धे सप्तग्रहणं किमर्थमिति चेत् ? न, अधिकसङ्ख्याव्यवच्छेदार्थत्वात् ।

ननु अतिरिक्तः पदार्थः प्रमितो न वा ? नाद्यः, प्रमितस्य निषेधायोगात् । नान्त्यः, प्रतियोगिप्रमितिं विना निषेधानुपपत्तेः इति चेत् ? न, पदार्थत्वं द्रव्यादिसप्तान्यतमत्वव्याप्यम् इति व्यवच्छेदार्थत्वात् । ननु सप्तान्यतमत्वं सप्तभिन्नभिन्नत्वम्, एवं च सप्तभिन्नस्याऽप्रसिद्धत्वात् सप्तान्यतमत्वं कथम्, इति चेत् ? न, द्रव्यादिसप्तान्यतमत्वं द्रव्यादिभेदसप्तकाभाववत्त्वम् इति तदर्थत्वात् । एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम् ।

पदार्थान् विभजते इति । तेषां विभागं करोतीत्यर्थः । व्याप्य-धर्मपुरस्कारेण कथनं विभागः । अत्र पदार्थत्वं द्रव्यत्वादिकम्, अधिक-देशवर्तित्वात् । द्रव्यत्वादीनि व्याप्यानि, न्यूनदेशवर्तित्वात् । तेन व्याप्यधर्मो द्रव्यत्वादिकं बोध्यम् ।

सप्त पदार्था इति । पदस्यार्थः पदार्थः इति व्युत्पत्त्या अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम् । अत्र 'ऋ' गतौ इत्यस्य धातोः अभिधारूपोऽर्थः । ततः परो य औणादिकः 'थन्' प्रत्ययस्तस्य विषयरूपोऽर्थः । अभिधा =शब्द-शक्तिः । ततोऽभिधाविषयत्वम् अभिधेयत्वम् इत्यर्थः । क्वचित् 'सप्तैव' इति पाठः, तत्र 'एव' शब्दस्य कोऽर्थः इति चेत् ? उच्यते, 'एव'शब्दः त्रिधा ? क्रियासङ्गतः १, विशेष्यसङ्गतः २, विशेषणसङ्गतश्च ३ । तत्र आद्यस्य अत्यन्तायोगव्यवच्छेदरूपोऽर्थः । द्वितीयस्य अन्ययोगव्यवच्छेदरूपोऽर्थः । तृतीयस्य अयोगव्यवच्छेदरूपोऽर्थः यतः-

नीलमब्जं भवत्येव पार्थ एव धनुर्धरः ।
शङ्खः पाण्डुर एव स्याद् 'एव'शब्दगतिस्त्रिधा ॥१॥ इति ।

अत्र च विशेषणसङ्गतः 'एव'शब्दो बोध्यः ।

नन्वतिरिक्त इति । ***ननु*** सप्तपदार्थापेक्षयाऽधिकः पदार्थः प्रमाविषयी-कृतो न वा ? नाद्यः, प्रमितस्य निषेधो वक्तुं न शक्यते, नान्त्यः, प्रतियोगिज्ञानं विना नास्तीति वक्तुं न शक्यते । यतः प्रतियोगिप्रकारकाऽभावबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति प्रतियोगिज्ञानत्वेन कारणता । यथा 'भूतले घटो नास्ति,' अत्र घटाभावस्य प्रतियोगी घटः, तद्ज्ञानं विना घटो नास्तीति वक्तुं न शक्यते, तथाऽत्रापि प्रतियोगी अष्टमः पदार्थो नास्तीति वक्तुं न शक्यते, इति चेद् ? ***उच्यते*** । 'पदार्थत्वं द्रव्यादीनां सप्तानाम् अन्यतमत्वस्य व्याप्यम्' इति व्यवच्छेदपदार्थः । अधिकेत्यादिरर्थस्तु अर्थाल्लभ्यते । ***ननु*** सप्तान्यतमत्वस्य सप्तभिन्नो योऽष्टमः पदार्थः तद्भिन्नत्वम् इत्यर्थो वाच्यः । एवं च सति सप्तभिन्नो यः पदार्थः स तु प्रसिद्धो नास्ति । यथा घटभिन्नत्वे सति पटभिन्नत्वे सति कुड्यभिन्नं सर्वं जगत्, तद्भिन्नं त्रितयमिति । अत्र घटादित्रितयभिन्नं सर्वं जगत् प्रसिद्धं वर्तते, तथा द्रव्यभिन्नत्वे सति, गुणभिन्नत्वे सति, कर्मभिन्नत्वे सति, सामान्यभिन्नत्वे

सति, विशेषभिन्नत्वे सति, समवायभिन्नत्वे सति अभावभिन्नो यः पदार्थः तद्भिन्नत्वं सप्तसु वर्तते, परम् अभावभिन्नः पदार्थः प्रसिद्धो नास्ति तत् कथं सप्तान्यतमत्वम् इति ***चेत् ? न,*** द्रव्यादिनां यद्भेदसप्तकं तस्य यो अभावः तद्वत्त्वम् इति सप्तान्यतमत्वस्यार्थः अस्माभिरुच्यते न तु प्राग्दर्शितोऽर्थः । तथाहि द्रव्ये गुणादिषड्भेदो वर्तते परं द्रव्यभेदो नायाति । एवं गुणादावपि सप्तसु विलोक्यते चेद् द्रव्यादिसप्तकम् आयाति । यथा एकस्मिन् षड्भेदः, अन्यस्मिन् तद्भेद इत्यर्थः ।

तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव ।

द्रव्यं विभजते-तत्रेति । तत्र=द्रव्यादिमध्ये द्रव्याणि नवैव इत्यन्वयः । कानि तानीत्यत आह पृथिवीत्यादि । ननु तमसो दशमद्रव्यस्य विद्यमानत्वात् कथं नवैव द्रव्याणि ? तथाहि-

तमः खलु चलं नीलं परापरविभागवत् ।
प्रसिद्धधर्मवैधर्म्यान्नवभ्यो भेत्तुमर्हति ॥१॥

'नीलं तमश्चलति' इत्यबाधितप्रतीतिबलान्नीलरूपाधारतया क्रियाधारतया च द्रव्यत्वं तावत् सिद्धम् । तत्र तमसो नाकाशादिपञ्चकेऽन्तर्भावो रूपवत्त्वात् । अत एव न वायौ, स्पर्शाभावात् सदा गतिमत्त्वाभावाच्च । नापि तेजसि, भास्वररूपाभावाद् उष्णस्पर्शाभावाच्च । नापि जले, शीतस्पर्शाभावान्नीलरूपाश्रयत्वाच्च । नापि पृथिव्यां, गन्धवत्त्वाभावात् स्पर्शरहितत्वाच्च । तस्मात् तमो दशमद्रव्यं, इति चेत् ? न, तमसस्तेजोऽभावरूपत्वात् । तथाहि-तमो हि न रूपि द्रव्यम्, आलोकाऽसहकृतचक्षुर्ग्राह्यत्वाद् आलोकाभाववत्, रूपिद्रव्यचाक्षुषप्रमायाम् आलोकस्य कारणत्वात् । तस्मात्प्रौढप्रकाशकतेजःसामान्याभावस्तमः । तत्र 'नीलं तमश्चलति' इति प्रत्ययो भ्रमः । अतो नव द्रव्याणि इति सिद्धम् ।

द्रव्यत्वजातिमत्त्वं गुणवत्त्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम् । लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वम् 'अव्याप्तिः,' यथा गोः-कपिलत्वम् । अलक्ष्यवृत्तित्वम् 'अतिव्याप्तिः,' यथा गोः-शृङ्गित्वम् । लक्ष्यमात्राऽवर्तनम् 'असम्भवः,' यथा गोः-एकशफत्वम् । एतद्दूषणत्रयरहितो धर्मो लक्षणम्, यथा गोः-सास्नादिमत्त्वम् । स एव 'असाधारणधर्म' इत्युच्यते । लक्ष्यतावच्छेदकत्वम् अनियतत्वम् असाधारणत्वम् । व्यावर्तकस्यैव लक्षणत्वे व्यावृतौ अभिधेयत्वादौ च अतिव्याप्तिवारणाय-तद्भिन्नत्वं धर्मविशेषणं देयम् । व्यवहारस्यापि लक्षणप्रयोजनत्वे तु न देयं, व्यावृत्तेरपि व्यवहारसाधनत्वात् । ननु गुणवत्त्वं न द्रव्यसामान्यलक्षणम् आद्यक्षणे, उत्पन्नविशिष्टद्रव्ये चाव्याप्तेः, इति चेत् ? न, गुणसमानाधिकरणसत्ताभिन्नजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । नन्वेवमपि 'एकं रूपं रसात् पृथग्' इति व्यवहाराद् रूपादौ अतिव्याप्तिः, इति चेत् ? न, एकार्थसमवायादेव तादृशव्यवहारोपपत्तौ गुणे गुणानङ्गीकारात् ।

तत्र तमस इति । तमः पक्षः, आकाशादिपञ्चकानन्तर्भूतत्वं साध्यते, रूपवत्त्वं हेतुः, पृथिव्यादिर्दृष्टान्तः । एवमग्रेऽपि । **प्रौढप्रकाशे**त्यादि । परमाणुरूपस्य तेजसः सर्वत्र विद्यमानत्वात् सत्यपि तमसि तमोनास्तित्वापत्तिः, तद्वारणाय प्रौढपदम् । सुवर्णादिमत्प्रदेशे सत्यपि तमसि तमसो नास्तित्वापत्तिवारणाय प्रकाशपदम् । प्रौढप्रकाशकतेजसः सूर्यस्वरूपस्य ग्रहणात् प्रदीपादिमत्प्रदेशे तमसोऽस्तित्वापत्तिः, तद्वारणाय सामान्यपदम् ।

द्रव्यलक्षणमाह **द्रव्यत्वे**त्यादि । ***ननु*** द्वितीयं लक्षणं किमर्थम् ? ***अत्रोच्यते,*** लक्षणस्य लक्षणान्तराऽदूषकत्वान्न दोषः । यद्वाऽऽद्ये पक्षतावच्छेदकहेत्वोरैक्यात् सिद्धसाधनतादोषः, तदर्थं द्वितीयं लक्षणं बोध्यम् । तथाहि-'द्रव्यम् इतरेभ्यो भिद्यते द्रव्यत्वात्' । अत्र द्रव्यं पक्षः, पक्षता द्रव्ये, पक्षतावच्छेदकं द्रव्यत्वम्, हेतुरपि द्रव्यत्वम् । एवं च द्वयोरैक्ये सति सिद्धसाधनता दोषः ।

असाधारणधर्म इत्यादि । लक्षणस्य लक्षणं तु अग्रे विवरिष्यामः ।

आद्यक्षणे इति । आद्यक्षणावच्छिन्ने द्रव्ये इत्यर्थः । आद्यक्षणे द्रव्यं निर्गुणमेवोत्पद्यते । पश्चात् तत्समवेता गुणा जायन्ते इत्युक्तत्वात् तत्राऽव्याप्तिः । ***ननु*** द्रव्यगुणयोर्युगपदेवोत्पत्तिः कुतो न ? ***उच्यते,*** सव्येतरगोविषाणयोरिव समानकालीनयोः कार्यकारणभावो नास्ति । अत्र तु द्रव्यं किल गुणं प्रति समवायिकारणं वर्तते यथा घटरूपं प्रति घटः समवायिकारणमिति । ततश्च न तयोर्युगपदुत्पत्तिरिति । **गुणसमानाधिकरणे**त्यादि गुणसमानाधिकरणा गुणाधिकरणवर्तिनी सत्ताभिन्ना एतादृशी या जातिः द्रव्यत्वरूपा जातिः, तद्वत्त्वं वर्तते द्रव्यमात्रे इति लक्षणसमन्वयः । अत्र 'जातिमत्त्वम्' एतावदेव उच्यते चेत् सत्ता जातिमादाय गुणकर्मणोः अतिव्याप्तिः । कथम् ? यथा सत्ताजातिमत्त्वं द्रव्ये तथा सत्ताजातिमत्त्वं गुणे कर्मणि च वर्तते इति, तदर्थं सत्ताभिन्नेति पदम् सत्ताया व्यावृत्तिः तथापि गुणत्वं कर्मत्वं चादाय उक्तस्थलेऽतिव्याप्तेस्तादवस्थ्यमेव, कथम् ? यथा सत्ताभिन्ना या द्रव्यत्वरूपा जातिः तद्वत्त्वं वर्तते द्रव्ये, तथा सत्ताभिन्ना गुणत्वकर्मत्वरूपा जातिः तद्वत्त्वं वर्तते गुणे कर्मणि च इति तत्रातिव्याप्तिः, तदर्थं **गुणसमानाधिकरणेति । नन्वेवमपी**त्यादि । ***ननु*** रूपं गुणः, तत्र एकत्वं सङ्ख्या वर्तते, तथा रसावधिकं पृथक्त्वमपि तत्र विद्यते, सङ्ख्यापृथकत्वे च गुणा स्तः, ततो रूपत्वजातिः गुणसमानाधिकरणा जाता, तेन रूपादौ अतिव्याप्तिः, ***अत्रोच्यते***-ऐकाधिकरण्यादेव तादृशस्य व्यवहारस्योपपत्तिः, न तु गुणे गुणसद्भावः । एकार्थः एकाधिकरणं घटादि, तत्र रूपं वर्तते सङ्ख्यापृथक्त्वेऽपि तत्रैव तिष्ठतः । एवं च एकार्थे द्वयोस्त्रयाणां वा समवायोऽस्ति, न तु रूपे गुणयोः समवायः । घटादिगतमेव एकत्वादिकं रूपेऽपि लक्ष्यते इत्यर्थः, अतो नोक्तदोषः ॥

[गुणविभागः]

रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-सङ्ख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोगविभाग-परत्वा-ऽपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-शब्द-बुद्धि-सुख-दुःखेच्छाद्वेष-प्रयत्न-धर्मा-ऽधर्म-संस्कारा-श्चतुर्विंशतिर्गुणाः ।

गुणं विभजते-रूपेति । द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान्

गुणः, गुणत्वजातिमान् वा । लघुत्वमृदुत्वकठिनत्वादीनां विद्यमानत्वात् कथं चतुर्विंशतिर्गुणा इति चेत् ? न, लघुत्वस्य गुरुत्वाभावरूपत्वात्, मृदुत्वकठिनत्वयोः अवयवसंयोगविशेषरूपत्वात् ।

[कर्मविभागः]

उत्क्षेपणा-ऽपक्षेपणा-ऽऽकुञ्चन-प्रसारण-गमनानि पञ्च कर्माणि ।

कर्म विभजते-उत्क्षेपणेति । संयोगिभिन्नत्वे सति संयोगासमवायिकारणं कर्म, कर्मत्वजातिमद् वा । ननु भ्रमणादेरपि अतिरिक्तस्य कर्मणः सत्त्वाद् पञ्चेत्यनुपपन्नमिति चेत् ? न, भ्रमणादीनामपि गमने अन्तर्भावात् न पञ्चत्वविरोधः ॥

कर्मलक्षणमाह-**संयोगे**त्यादि । अङ्गुलीद्वयसंयोगस्य समवायिकारणम् अङ्गुलीद्वयम्, असमवायिकारणं तु तन्निष्ठं कर्म, कार्येण अङ्गुलीद्वयसंयोगेन एकस्मिन्नर्थे अङ्गुलीद्वये समवेतत्वात् ॥

[सामान्यविभागः]

परमपरं चेति द्विविधं सामान्यम् ।

सामान्यं विभजते-परमिति । परम्-अधिकदेशवृत्ति, अपरं-न्यूनदेशवृत्ति । सामान्यादिचतुष्टये जातिर्नास्ति ॥

[विशेषविभागः]

नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव ।

विशेषं विभजते-नित्येति । पृथिव्यादिचतुष्टयस्य परमाणवः आकाशादिपञ्चकं च नित्यद्रव्याणि ॥

[समवायविभागः]

समवायस्त्वेक एव ।

समवायस्य भेदो नास्तीत्यत आह-समवायस्त्विति ॥

[अभावविभागः]

अभावश्चतुर्विधः । प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चेति ।

अभावं विभजते-अभाव इति ॥

[पृथिवीनिरूपणम्]

तत्र गन्धवती पृथिवी । सा द्विविधा । नित्याऽनित्या च । नित्या परमाणुरूपा । अनित्या कार्यरूपा ।

पुनस्त्रिविधा । शरीरेन्द्रियविषयभेदात् । शरीरमस्मदादीनाम् । इन्द्रियं गन्धग्राहकं घ्राणं नासाग्रवर्ति । विषयो मृत्पाषणादिः ।

तत्रोद्देशक्रमेण क्रमानुसारेण प्रथमं पृथिव्याः लक्षणमाह-**गन्धवतीति** । नाम्ना पदार्थसङ्कीर्तनमुद्देशः । उद्देशक्रमे च सर्वत्र इच्छैव नियामिका ।

ननु सुरभ्यसुरभ्यवयवारब्धे द्रव्ये परस्परविरोधेन गन्धानुत्पादाद् अव्याप्तिः । न च गन्धप्रतीत्यनुपपत्तिरिति वाच्यम्, अवयवगन्धस्यैव तत्र भानसम्भवेन चित्रगन्धानङ्गीकारात् । किञ्च-उत्पन्नविनष्टघटादौ अव्याप्तिः इति चेत् ? न, गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वापरजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् ।

ननु जलादावपि गन्धप्रतीतेः अतिव्याप्तिः इति चेत् ? न, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पृथिवीगन्धस्यैव तत्र भानाङ्गीकारात् । ननु तथापि कालस्य सर्वाधारतया सर्वेषां लक्षणानां तत्रातिव्याप्तिः इति चेत् ? न,

सर्वाधारताप्रयोजकसम्बन्धभिन्नसम्बन्धेन लक्षणस्याभिमतत्वात् ।

पृथिवीं विभजते-सा द्विविधेति । नित्यत्वं ध्वंसाप्रतियोगित्वम् । ध्वंसप्रतियोगित्वम् अनित्यत्वम् । प्रकारान्तरेण विभजते पुनरिति । आत्मनो भोगायतनं शरीरम् । यदवच्छिन्नात्मनि भोगो जायते तद् भोगायतनम् । सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो भोगः । शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वम् इन्द्रियत्वम् । शरीरेन्द्रियभिन्नो विषयः । एवं च गन्धवच्छरीरं पार्थिवशरीरम्, गन्धवदिन्द्रियं पार्थिवेन्द्रियम्, गन्धवान् विषयः पार्थिवविषयः, इति तल्लक्षणं बोध्यम् । पार्थिवं शरीरं दर्शयति-शरीरमिति । पार्थिवेन्द्रियं दर्शयति-इन्द्रियमिति । गन्धग्राहकमिति प्रयोजनकथनम् । घ्राणमिति सञ्ज्ञा । नासाग्रेति आश्रयोक्तिः एवमुत्तरत्र ज्ञेयम् । पार्थिवविषयं दर्शयति-मृत्पाषाणेति ॥

अथ यावद् उद्देशलक्षणपरीक्षाः न क्रियन्ते तावद् पदार्थानां बोधो न भवतीति वचनात् आदौ उद्देशं विधाय तत्क्रमानुसारेण पृथिव्या लक्षणमाह-**गन्धवती**ति । किं नाम उद्देशत्वम् ? नाममात्रेण पदार्थसङ्कीर्तनत्वम् उद्देशत्वम् । ताल्वोष्टपुटव्यापारेणोच्चारणं सङ्कीर्तनम् । इह वंशे पाट्यमाने दलद्वयविभागजन्यचटचटशब्दे अतिव्याप्तिवारणाय 'सं' पदम् । काकरवे अतिव्याप्तिवारणाय नामपदम् । वन्ध्यापुत्रे अतिव्याप्तिवारणाय पदार्थपदम् । लक्षणवाक्ये अतिव्याप्तिवारणाय मात्रपदम् ।

तथा असाधारणधर्मो लक्षणम् । असाधारणत्वं नाम लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वम् । लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वं नाम लक्ष्यतावच्छेदकव्याप्यत्वे सति लक्ष्यतावच्छेदकव्यापकत्वम् । यावन्ति लक्षणानि तानि सर्वाण्यपि लक्ष्याणि, तेषां लक्षणमिदम् ।

अथ पृथिव्या लक्षणं गन्धः, तत्रेदं लक्षणमानेयम्-तथा हि- अत्र पृथिवीम् उद्दिश्य गन्धवत्त्वं तस्या लक्षणं विधीयते । कुतः ? लक्ष्यमुद्दिश्य लक्षणस्य प्रवृत्तेः । यदुद्दिश्य लक्षणं क्रियते तल्लक्ष्यम् इति कृत्वा लक्ष्या

पृथिवी, लक्ष्यता पृथिव्यां, लक्ष्यतावच्छेदकं पृथिवीत्वम् । यत्र यत्र गन्धस्तत्र तत्र पृथिवीत्वम् इति कृत्वा गन्धे लक्ष्यतावच्छेकव्याप्यत्वं वर्तते । एवं यत्र यत्र लक्ष्यतावच्छेदकं पृथिवीत्वं तत्र तत्र गन्ध इति कृत्वा गन्धे लक्ष्यता-वच्छेदकव्यापकत्वमपि वर्तते इति । **'व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्'** इति वचनाद् व्यावर्तकस्यैव=इतरभेदानुमापकस्यैव लक्षणत्वे सति व्यावृत्तौ अभिधेयत्वादौ चातिव्याप्तिः । कथम् ? पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते, इतरभिन्नत्वाद् एषा व्यावृत्तिः । इह च यत्र यत्र पृथिवीतरभेदः तत्र तत्र लक्ष्यतावच्छेदकं पृथिवीत्वमिति कृत्वा व्यावृत्तौ लक्ष्यतावच्छेदकव्याप्यत्वं वर्तते । एवं यत्र यत्र लक्ष्यतावच्छेदकं पृथिवीत्वं तत्र तत्र पृथिवीतरभेदः इति कृत्वा व्यावृत्तौ लक्ष्यतावच्छेदकव्यापकत्वमपि वर्तते इति तत्रातिव्याप्तिः । व्यावृत्तेर्व्यावर्तकत्वं नास्तीत्यतोऽलक्ष्यत्वम् । एवमभिधेयत्वेऽपि-यथा पदार्था इतरेभ्यो भिद्यन्ते अभिधेयत्वात् । इह च यत्र यत्र अभिधेयत्वं तत्र तत्र लक्ष्यतावच्छेदकं पदार्थत्वम्, इति अभिधेयत्वे लक्ष्यतावच्छेदकव्याप्यत्वं वर्तते । एवं यत्र यत्र लक्ष्यतावच्छेकव्यापकं पदार्थत्वं तत्र तत्र अभिधेयत्वम् इति अभिधेयत्वे लक्ष्यतावच्छेदकव्यापकत्वमपि वर्तते इति कृत्वा तत्रातिव्याप्तिः । अस्यापि व्यावर्तकत्वं नास्ति अतोऽलक्ष्यत्वं, ततश्च तयोरतिव्याप्तिवारणाय तद्भिन्नत्वं विशेषणं देयम् । तथा च व्यावृत्तिभिन्नत्वे सति, अभिधेयत्वादि-भिन्नत्वे सति लक्ष्यतावच्छेकसमनियतत्वम् असाधारणत्वम् इति सिद्धम् । व्यवहारस्यापि अयं घटः पृथिवी इति व्यवहर्तव्यः पृथिवीतरभेदात्, तथाऽयं घटः पृथिवी इति व्यवहर्तव्य अभिधेयत्वाद् अन्यघटवद् इत्याद्यनुमानात् तयोरपि लक्ष्यत्वात् ।

अथ परीक्षालक्षणमुच्यते । लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते न वा इति विचारः परीक्षा निर्णय इत्यर्थः । इह विचारः परीक्षा इत्येव उच्यते चेत् मूर्खविचारे अतिव्याप्तिः, तदर्थं लक्षितस्येत्याद्युक्तम् । का वा मूर्खविचारणा ? उच्यते,

दन्ताः कियन्तः काकस्य, मेषस्याण्डं कियत् पलम् ।
गर्दभस्य कियल्लिङ्गम्, एषा मूर्खविचारणा ॥१॥ इत्यादि ।

गन्धसमानाधिकरणेत्यादि । गन्धसमानाधिकरणा नाम गन्धाधिकरणे

वर्तमाना, अथ च **द्रव्यत्वापरा**=द्रव्यत्वव्याप्या-द्रव्यत्वापेक्षया न्यूनदेशवर्तिनी एतादृशी या जातिः पृथिवीत्वरूपा जातिः, तद्वत्त्वं वर्तते पृथिव्याम् इति कृत्वा लक्षणसङ्गतिः । अतः परं तादृशजातेः तत्रापि सत्त्वान्नातिव्याप्तिः । अत्र जातिमत्त्वम् इति उच्यते चेत्, सत्ताजातिमादाय जलादौ गुणकर्मणोश्च अतिव्याप्तिः, तदर्थं **'द्रव्यत्वापरा'** इति पदम् । अतः परं गुणकर्मणोर्नातिव्याप्तिः परं जलादौ अतिव्याप्तेः तादवस्थ्यम् एव, तदर्थं **गन्धसमानाधिकरणे**ति । गन्धसमानाधि-करणत्वं, गन्धाधिकरणवर्तित्वम् । अथ सम्बन्धो निवेशनीयःसमवायसम्बन्धेन गन्धाधिकरणं पृथिवी, तत्र वर्तित्वम् । ***ननु*** तत्र कालिकसम्बन्धेन जलत्वमपि वर्तते ततो जलेऽतिव्याप्तिः ? ***अत्रोच्यते***-'समवायसम्बन्धेन गन्धाधिकरणे समवायसम्बन्धेन वर्तित्वम् इति गन्धसमानाधिकरणार्थो विवक्षितः,' तेन न दोषः । **नन्विति**-'सुरभिजलम्' इत्यत्र यत्र यत्र गन्धप्रतीतिसत्त्वं तत्र तत्र पृथिवीसम्बन्धसत्त्वम्, यत्र यत्र पृथिवीसम्बन्धाभावः तत्र तत्र गन्धप्रतीत्यभावः, इति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पृथिवीगन्ध एव भासते नान्य इत्यर्थः ।

यदवच्छिन्नेति-शरीरावच्छिन्नेत्यर्थः । तेन घटाद्यवच्छेदेन सत्यप्यात्मनि तत्र भोगाभावात् न तद्भोगायतनमित्यर्थः ।

इन्द्रियलक्षणमाह **(शब्देतरोद्भूतेति)** । शब्दाद् इतरे ये उद्भूता विशेषगुणाः रूपादयः तदनाश्रयत्वं वर्तते मनसि, अथ च ज्ञानस्य कारणीभूतो यो मनःसंयोगः-आत्ममनःसंयोगः तदाश्रयत्वमपि वर्तते, इति कृत्वा मनसि लक्षणसमन्वयः । एवं शब्देतरोद्भूतविशेषगुणा रूपादयः अनाश्रयत्वं वर्तते चक्षुरादौ, अथ च ज्ञानस्य कारणीभूतो यो मनःसंयोगः चक्षुरादिमनःसंयोगः, तदाश्रयत्वं वर्तते चक्षुरादौ, इति कृत्वा चक्षुरादौ सर्वत्र लक्षणं बोध्यम् । अत्र श्रोत्रेन्द्रियेऽव्याप्तिवारणाय **शब्देतरेति ।** उद्भूतविशेषगुणः शब्दः श्रोत्रे, तदनाश्रयत्वं नास्ति । अत्र 'उद्भूत'पदं नोच्यते चेत् चक्षुरादौ अव्याप्तिः, कथम् ? शब्दाद् इतरे ये विशेषगुणा रूपादयः, तदनाश्रयत्वं नास्ति, चक्षुरादीनाम् अनुद्भूत-रूप(व)त्त्वात् । अथ 'विशेष' पदं नोच्यते चेत् चक्षुरादौ असम्भवः । कथम् ? शब्दाद् इतरे उद्भूतगुणाः के ? संयोगादयः, तदनाश्रयत्वं नास्ति । अत्र आत्मन्यतिव्याप्तिवारणाय **शब्देतरे**त्यादि सत्यन्तं पदम् । यद्यपि आत्मनि ज्ञानस्य कारणीभूतो यो मनःसंयोगः आत्ममनःसंयोगः, तदाश्रयत्वं वर्तते तथापि

शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वं नास्ति । कालदिशोः अतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यदलम् । अथ पुनः कालादौ अतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानकारणपदम् । कालमनःसंयोगो ज्ञानकारणं न भवति । अथ मनःपदं नोच्यते चेत् इन्द्रियावयवे अतिव्याप्तिः । इन्द्रियावयवविषयसंयोगोऽपि ज्ञानकारणं भवति, परं तत्र मनःसंयोगो नास्ति । ***ननु*** इन्द्रियत्वं जातिर्वा उपाधिर्वा ? ***उच्यते,*** इन्द्रियत्वं जातिर्नास्ति, सङ्करात् यदाह **उदयनाचार्यः** जातिलक्षणसङ्ग्रहे **'यत्र सङ्करस्तत्र जातिर्न'** [ ] इति । सङ्करः किम् ? उच्यते परस्परात्यन्ताभावसमानाधि-करणयोर्धर्मयोरेकत्र समावेशः सङ्करः । यथा-इन्द्रियत्वात्यन्ताभाववति तेजसि तेजस्त्वं वर्तते, तेजस्त्वात्यन्ताभाववति इन्द्रिये इन्द्रियत्वं वर्तते, चक्षुरिन्द्रिये उभयोरपि समावेशः । एवमन्यत्रापि । जातिभिन्नो धर्म उपाधिः ॥

[जलनिरूपणम्]

शीतस्पर्शवत्य आपः । ता द्विविधाः । नित्याः अनित्याश्च । नित्याः परमाणुरूपाः । अनित्याः कार्य-रूपाः ।

पुनस्त्रिविधाः शरीरेन्द्रियविषयभेदात् । शरीरं वरुण-लोके । इन्द्रियं रसनं जिह्वाग्रवर्ति । विषयः सरित्स-मुद्रादिः ॥

अपां लक्षणमाह-शीतेति । उत्पन्नविनष्टे जले अव्याप्ति-वारणाय शीतस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वापरजातिमत्त्वे तात्पर्यम् । 'शीतं शिलातलम्' इत्यादौ जलसम्बन्धादेव शीतस्पर्शभानम् इति नातिव्याप्तिः । अन्यत् सर्वं पूर्वरीत्या व्याख्येयम् ॥

[तेजोनिरूपणम्]

उष्णस्पर्शवत् तेजः । तच्च द्विविधम् । नित्यम् अनित्यं च । नित्यं परमाणुरूपम् । अनित्यं कार्यरूपम् ।

पुनस्त्रिविधम् । शरीरेन्द्रियविषयभेदात् । शरीर-मादित्यलोके प्रसिद्धम् । इन्द्रियं रूपग्राहकं चक्षुः कृष्णताराग्रवर्ति । विषयश्चतुर्विधः । भौम-दिव्यौदर्याकर-जभेदान् । भौमं वह्न्यादिकम् । अबिन्धनं दिव्यं विद्युदादि । भुक्तस्य परिणामहेतुरौदर्यम् । आकरजं सुवर्णादि ॥

तेजसो लक्षणमाह-उष्णस्पर्शवदिति । 'उष्णं जलम्' इति प्रतीतेः तेजःसम्बन्धानुविधायित्वात् नातिव्याप्तिः । विषयं विभजते-भौमेति ।

ननु सुवर्णं पार्थिवं, पीतत्वाद्, गुरुत्वाद्, हरिद्रावद् इति चेत् ? न, अत्यन्तानलसंयोगे सति घृतादौ द्रवत्वनाशदर्शनेन जलमध्यस्थघृते द्रवत्वनाशादर्शनेन, असति प्रतिबन्धके पार्थिवद्रवत्वनाशाग्निसंयोगयोः कार्यकारणभावावधाणात् । सुवर्णस्य अत्यन्तानलसंयोगे सति अनुच्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणेन पार्थिवत्वानुपपत्तेः । तस्मात् पीतद्रव्य-द्रवत्वनाशप्रतिबन्धकतया द्रवद्रव्यान्तरसिद्धौ नैमित्तिकद्रवत्वाधि-करणतया जलत्वानुपपत्तेः रूपवत्तया वाय्वादिष्वनन्तर्भावात् तैजसत्व-सिद्धिः । तस्योष्णस्पर्शभास्वररूपयोः उपष्टम्भकपार्थिवरूपस्पर्शाभ्यां प्रतिबन्धाद् अनुपलब्धिः । तस्मात् सुवर्णं तैजसम् इति सिद्धम् ॥

ननु इत्यादि । सुवर्णं पार्थिवं, पीतत्वात्, सुवर्णं न तैजसं गुरुत्वात् । एवं हेतुद्वयं योज्यम्, अन्यथा एकवाक्ये हेतुद्वयवैफल्यादित्यर्थः । ***अत्र केचित्*** 'सुवर्णं पार्थिवं पीतत्वे सति गुरुत्वात्, जलेऽतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तम्, उद्यदादित्यालोकेऽतिव्याप्तिवारणाय 'गुरुत्वात्' इति पदमि***त्याहुः'-अत्रोच्यते,*** असति प्रतिबन्धके पार्थिवद्रवत्वनाशत्वावच्छिन्नं प्रति अत्यन्तानलसंयोगत्वेन कारणता, परं सुवर्णे तु सा नास्ति, अतो न सुवर्णं पार्थिवम् । ***ननु*** सुवर्णं तैजसं तर्हि तत्र पीतत्वं गुरुत्वं च कथम् ? उच्यते, तत्र पीतिमगुरुत्वाश्रयीभूतः

पार्थिवभागो वर्तते । ***एवं तर्हि*** अत्यन्तानलसंयोगे सति तत्र द्रवत्वनाशे किं प्रतिबन्धकम् ? ***अत्रोच्यते,*** पीतद्रव्ये यद् द्रवत्वं तस्य नाशे प्रतिबन्धकं किञ्चिद् द्रवद्रव्यान्तरं सिद्धं, तत् तैजसं भवतीत्यर्थः ।

[वायुनिरूपणम्]

रूपरहितः स्पर्शवान् वायुः । स द्विविधः । नित्योऽनित्यश्च । नित्यः परमाणुरूपः । अनित्यः कार्यरूपः ।

पुनस्त्रिविधः शरीरेन्द्रियविषयभेदात् । शरीरं वायुलोके । इन्द्रियं स्पर्शग्राहकं त्वक् सर्वशरीरवर्ति । विषयो वृक्षादिकम्पनहेतुः । शरीरान्तःसञ्चारी वायुः प्राणः । स चैकोऽपि उपाधिभेदात् प्राणाऽपानादिसञ्ज्ञां लभते ॥

वायुं निरूपयति-रूपरहितेति । आकाशादौ अतिव्याप्तिवारणाय स्पर्शवान् इति । पृथिव्यादौ अतिव्याप्तिवारणाय रूपरहितेति । ननु प्राणस्य कुत्रान्तर्भाव इत्यत आह-शरीरेति । स चेति। एक एव प्राणः स्थानभेदात् प्राणापानादिशब्दैर्व्यवह्रियते इत्यर्थः ।

स्पर्शानुमेयो वायुः । तथाहि-'योऽयं वायौ वाति सति अनुष्णाशीतः स्पर्शो भासते स स्पर्शः क्वचिदाश्रितः-गुणत्वात्, रूपवत्' । न चास्य पृथिवी आश्रयः, उद्भूतस्पर्शवतः पार्थिवस्य उद्भूतरूपवत्त्वनियमात् । न जलतेजसी, अनुष्णाशीतत्वात् । न विभुचतुष्टयम्, सर्वत्रोपलब्धिप्रसङ्गात् । न मनः परमाणुस्पर्शस्यातीन्द्रियत्वात् । तस्माद् यः प्रतीयमानस्पर्शाश्रयः स वायुः । ननु 'वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वाद् घटवत् इति चेत् ? न, उद्भूतरूपवत्त्वस्योपाधित्वात् । यत्र द्रव्यत्वे सति बहिरिन्द्रियप्रत्यक्षत्वं तत्र 'उद्भूतरूपवत्त्वम्' इति घटादौ साध्यव्यापकत्वम् । यत्र प्रत्यक्षस्पर्शाऽऽश्रयत्वं 'तत्र उद्भूतरूपवत्त्वं नास्ति' इति पक्षे साधनाव्यापकत्वम् । न चैवं तप्तवारिस्थतेजसोऽप्यप्रत्यक्षत्वापत्तिः, इष्टत्वात् । तस्माद् रूपरहितत्वाद् वायुरप्रत्यक्षः ॥

[जगत उत्पत्तिविनाशनिरूपणम्]

इदानीं कार्यरूपपृथिव्यादिचतुष्टयस्य उत्पत्तिविनाशक्रमः कथ्यते । ईश्वरस्य चिकीर्षावशात् परमाणुषु क्रिया जायते । ततः परमाणुद्वयसंयोगे सति द्व्यणुकमुत्पद्यते । त्रिभिर्द्व्यणुकैः त्र्यणुकम् । एवं चतुरणुकादिक्रमेण महती पृथिवी, महत्य आपः, महत् तेजः, महान् वायुः उत्पद्यते । एवमुत्पन्नस्य कार्यद्रव्यस्य सञ्जिहीर्षावशात् परमाणुषु क्रिया । क्रियया परमाणुद्वयविभागे सति द्व्यणुकस्य नाशः । ततः त्र्यणुकस्य, ततः चतुरणुकस्य, इत्येवं महापृथिव्यादिनाशः । असमवायिकारणनाशाद् द्व्यणुकनाशः, समवायिकारणनाशात् त्र्यणुकनाशः इति सम्प्रदायः । सर्वत्र असमवायिकारणनाशाद् द्रव्यनाश इति नवीनाः ।

किं पुनः परमाणुसद्भावे प्रमाणम् ? उच्यते । जालसूर्यमरीचिस्थं सूक्ष्मतमं यद् रजो दृश्यते तत्-सावयवं-चाक्षुषद्रव्यत्वात् पटवत् । त्र्यणुकावयवोऽपि सावयवः-महदारम्भकत्वात्, तन्तुवत् । यो द्व्यणुकावयवः, स एव परमाणुः । स च नित्यः । तस्याऽपि कार्यत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । तथा च मेरुसर्षपयोरपि तुल्यपरिणाणापत्तेः ।

सृष्टिप्रलयसद्भावे 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' [ ] इति श्रुतिः प्रमाणम् । सर्वकार्यद्रव्यध्वंसोऽवान्तरप्रलयः । सर्वभावकार्यध्वंसो महाप्रलयः इति विवेकः ॥

प्राणः पञ्चधा–

हृदि प्राणो गुदेऽपानः, समानो नाभिमण्डले ।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः ॥ [ ]

लौकिकविषयतासम्बन्धेन बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति समवायसम्बन्धेन उद्भूतरूपत्वेन कारणता । कार्यं बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षं, कार्यता बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे, कार्यतावच्छेदकं बहिरिन्द्रियजन्य-द्रव्यप्रत्यक्षत्वं, कारणम् उद्भूतरूपम्, अग्रे पूर्ववत् । कार्यतावच्छेदकः सम्बन्धः, [कार्यतावच्छेदको] वा लौकिकविषयतासम्बन्धः, कारणतावच्छेदको वा समवायसम्बन्धः । वायौ उद्भूतरूपाभावात् प्रत्यक्षज्ञानं नास्ति । **ननु वायुः प्रत्यक्ष** इत्यादि । अत्र उद्भूतरूपवत्त्वम् उपाधिः । को वायम् उपाधिः ? पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकः । पक्षधर्मः को वा ? बहिर्द्रव्यत्वम्, यत्र यत्र बहिर्द्रव्यत्वे सति प्रत्यक्षत्वं, तत्र तत्र उद्भूतरूपवत्त्वं, यथा बहिर्द्रव्यत्वे सति प्रत्यक्षत्वं वर्तते घटादौ, तत्र उद्भूतं रूपं वर्तते, इति उद्भूतरूपस्य साध्यव्यापकत्वम् । पक्षे साधनाव्यापकत्वं कथम् ? साधनं किं भवति ? प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वं, तद् वायौ वर्तते, तत्र उद्भूतरूपं नास्ति, एवं साधना-व्यापकत्वम् । **न चेति** तप्तवारिस्थं तेजः प्रत्यक्षं प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वादिति।

ईश्वरस्येति । यदा ईश्वरस्य चिकीर्षा जायते तदा परमाणुषु क्रिया समुत्पद्यते । ***ननु*** ईश्वरेच्छा नित्या, तर्हि कथं जायते इति, उच्यते ? इच्छा तु सर्वदाऽस्त्येव, परं फलोन्मुखा जायते इत्यर्थो बोध्यः । **त्रिभिर्द्व्यणुकैः** इति । ***ननु*** सर्वत्र द्वाभ्यामेव व्यवहारः, त्रिभिरिति कथम् ? ***उच्यते*** त्र्यणुकेऽपकृष्टं महत्त्वं वर्तते, तद् बहुत्वजन्यं भवति । द्वाभ्यां तु बहुत्वं न स्यात् यत्रावयवेषु बहुत्वं तत्रावयविन्यपि बहुत्वं स्यादित्यर्थः । **द्व्यणुकनाश** इति । द्व्यणुकनाश-त्वावच्छिन्नं प्रति परमाणुद्वयसंयोगनाशत्वेन कारणता, त्र्यणुकादिनाशत्वावच्छिन्नं प्रति द्व्यणुकादिनाशत्वेन कारणता इति **प्राञ्चः । मह**दिति । महतः आरम्भको महान् तन्तुर्यथा महतः पटस्य आरम्भकस्तथा त्र्यणुकावयवोऽपि महतस्त्र्य-णुकस्यारम्भकः । ***ननु*** परमाणौ नित्यत्वं वा कार्यत्वम् ? अत्रोच्यते, नित्यत्वं वर्तते । कार्यत्वे सति अनवस्थादोषप्रसङ्गः स्यात् । कथम् ? कार्यत्वं सावयवत्वव्याप्यं भवति, ततश्च परमाणोः सावयवत्वे तदवयवस्यापि सावयवत्वम् इत्येवमनवस्था स्यात् । **सृष्टी**ति सृष्टिसद्भावे प्रलयसद्भावे च प्रमाणं श्रुतिः **यथा धाते**त्यादि । धाता यथा सृष्टिं पूर्वमकल्पयत् तथा साम्प्रतमपि । एतेन मध्ये प्रलयः सूचितः । प्रलयो द्विविधः । **सर्वे**ति ।

द्रव्यपदेन पृथिव्याः परमाणुगतरूपादीनां पाकजानामपि ध्वंसो न इत्यर्थो बोध्यः, महाप्रलये तु तेषामपि नाशः । ततः सर्वं शून्यमेव तिष्ठति । तादृशः प्रलयो न इत्येके ॥

[आकाशनिरूपणम्]

शब्दगुणकम् आकाशम् । तच्चैकं विभु नित्यं च ।

आकाशं लक्षयति-शब्दगुणकमिति । ननु किमाकाशं पृथिव्यादिवन्नाना ? नेत्याह-तच्चैकमिति । भेदे प्रमाणाभावा-दित्यर्थः । एकत्वादेव सर्वत्रोपलब्धेर्विभुत्वमङ्गीकर्तव्यमित्याह-विभ्विति । सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम् । मूर्तत्वं परिच्छिन्न-परिमाणवत्त्वं क्रियावत्त्वं वा । विभुत्वादेव आत्मवत् नित्यत्वमित्याह -नित्यं चेति ।

मूर्तेति-पृथिव्यप्तेजोवायुमनांसि मूर्तद्रव्याणि । मनःस्थाने आकाशे उक्ते तु पञ्चभूतानि स्युः ॥

[कालनिरूपणम्]

अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः । स चैको विभु-र्नित्यश्च ।

कालं लक्षयति-अतीतेति । सर्वाधारः कालः सर्वकार्ये निमित्त कारणं च ।

काल इति-कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति कालत्वेन कारणता ।

[दिङ्-निरूपणम्]

प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक् । सा चैका विभ्वी नित्या च ।

दिशो लक्षणमाह-प्राचीति । दिगपि कार्यमात्रे निमित्त-कारणम् ।

[आत्मनिरूपणम्]

ज्ञानाधिकरणमात्मा । स द्विविधः । परमात्मा जीवात्मा चेति । तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव । जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च ।

आत्मनो लक्षणमाह-ज्ञानेति । आत्मानं विभजते-स द्विविध इति । परमात्मनो लक्षणमाह-तत्रेति । नित्यज्ञानाधिकरणत्वम् ईश्वरत्वम् । नन्वीश्वरस्य सद्भावे किं प्रमाणम् ? न तावत् प्रत्यक्षम्, तद्धि बाह्यमाभ्यतरं वा ? नाद्यम्, अरूपिद्रव्यत्वात् । नान्त्यम्, आत्मसुखादिव्यतिरिक्तत्वात् । नाप्यनुमानम्, लिङ्गाभावात् । नाप्यागमः तथाविधागमाभावात् इति चेत् ? न, 'क्षित्यङ्कुरादिकं, कर्तृजन्यं, कार्यत्वाद्-घटवत्' इत्यनुमानस्य प्रमाणत्वात् । उपादान-गोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वं कर्तृत्वम् । उपादानं समवायि-कारणम् । सकलपरमाण्वादिसूक्ष्मदर्शित्वात् सर्वज्ञत्वम् । 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' [ ] इत्यागमोऽपि तत्र प्रमाणम् ।

जीवस्य लक्षणमाह-जीव इति । सुखादिकं जीवलक्षणम् । ननु 'मनुष्योऽहं' 'ब्राह्मणोऽहम्' इत्यादौ सर्वत्र 'अहम्' प्रत्यये शरीरस्यैव विषयत्वाच्छरीरमेवात्मा इति चेत् ? न, शरीरस्याऽऽत्मत्वे करपादादिनाशे शरीरनाशाद् आत्मनोऽपि नाशापत्तेः । नापि इन्द्रियाणाम् आत्मत्वम् । तथात्वे ''योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहमिदानीं स्पृशामि'' इत्यनुसन्धानाभावप्रसङ्गात् । अन्यानुभूतेऽन्यस्यानुसन्धाना-योगात् । तस्माद् देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो जीव, सुखादिवैचित्र्यात् प्रतिशरीरं भिन्नः । स च न परमाणुपरिमाणः, शरीरव्यापिसुखाद्य-नुपलब्धिप्रसङ्गात् । न मध्यमपरिमाणः, तथा सति अनित्यत्वप्रसङ्गेन कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । तस्मान्नित्यो विभुर्जीवः ।

उपादानेति । उपादानगोचरं समवायिकारणविषयकं यत् प्रत्यक्षज्ञानम्,

उपादानगोचरा या चिकीर्षा, उपादानगोचरा या कृतिः, तद्वत्त्वं कर्तृत्वम् । **नापीन्द्रियाणा**मिति । पूर्वं घटो दृष्टः, ततो दैवयोगात् चक्षुषी नष्टे, तदनन्तरं पुनरपि तस्यैव घटस्य स्पर्शे सति स वक्ति **योऽह**मिति । यदि इन्द्रियाणामात्मत्वं तर्हि घटस्यानुभवस्तु चक्षुषो जातः, स्मरणं त्वगिन्द्रियस्य न सङ्गच्छते । यथा चैत्रानुभूते मैत्रस्य स्मरणं न स्यादिति ।

[मनोनिरूपणम्]

सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः । तच्च प्रत्यात्म-नियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यं च ।

मनसो लक्षणमाह-सुखेति । स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्त्वं मनसो लक्षणम् । मनो विभजते-तच्चेति । एकैकस्यात्मन एकैकं मन आवश्यकम् इति आत्मनामनेकत्वान्मनसामप्यनेकत्वम् इत्यर्थः । परमाणुरूपमिति । मध्यमपरिमाणवत्त्वे अनित्यत्वप्रसङ्गाद् इत्यर्थः । ननु 'मनो, विभु, स्पर्शरहितद्रव्यत्वाद् इति चेत् ? न, मनसो विभुत्वे आत्ममनःसंयोगास्यासमवायिकारणस्याभावाद् ज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गात् । न च विभुद्वयसंयोगोऽस्तु इति वाच्यम्, तत्संयोगस्य नित्यत्वेन सुषुप्त्यभावप्रसङ्गात् । पुरीतदव्यतिरिक्तप्रदेशे आत्ममनःसंयोगस्य सर्वदा विद्यमानत्वात् । अणुत्वे तु यदा मनः पुरीतति नाड्यां प्रविशति तदा सुषुप्तिः, यदा निःसरति तदा ज्ञानोत्पत्तिः, इत्यणुत्वसिद्धिः ।

[इति द्रव्याणि]

सुखेति-सुखाद्युपलब्धिसाधनत्वे सति इन्द्रियत्वं मनसो लक्षणम् । आत्मन्यव्याप्तिवारणाय **इन्द्रिये**ति । चक्षुरादौ अतिव्याप्तिवारणाय पूर्वदलम् । **आत्ममनःसंयोग** इति । कार्यं ज्ञानं तेन सह एकस्मिन्नात्मनि समवेतत्वे सति कारणम् आत्ममनःसंयोगः । ज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति पुरीततिबहिर्देशा-वच्छिन्नात्ममनःसंयोगत्वेन कारणता, पुरीतत्यन्तर्देशावच्छिन्नसंयोगत्वेन नेत्यर्थः इति द्रव्याणि ॥

[रूपनिरूपणम्]

चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम् । तच्च शुक्ल-नील-पीत-रक्त-कपिश-चित्र-भेदात् सप्तविधम् । पृथिवी-जलतेजोवृत्ति । तत्र पृथिव्यां सप्तविधम् । अभास्वरशुक्लं जले । भास्वरशुक्लं तेजसि ।

रूपं लक्षयति-चक्षुरिति । सङ्ख्यादौ अतिव्याप्तिवारणाय 'मात्र'पदम् । रूपत्वे अतिव्याप्तिवारणाय 'गुण'पदम् । प्रभा-भित्तिसंयोगे अतिव्याप्तिवारणाय-चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमत्त्वं वाच्यम् ।

रूपं विभजते-तच्चेति । नन्वव्याप्यवृत्ति नीलादिसमुदाय एव चित्ररूपम् इति चेत् ? न, रूपस्य व्याप्यवृत्तित्वनियमात् । ननु चित्रपटे अवयवरूपस्य प्रतीतिरस्तु इति चेत् ? न, रूपरहितत्वेन पटस्य अप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् । न च रूपवत् समवेतं प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं, गौरवात् । तस्मात् पटस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्त्या चित्ररूपसिद्धिः । रूपस्याश्रयमाह-पृथिवीति । आश्रयं विभज्य दर्शयति-तन्नेति ।

अथ उद्देशक्रमप्राप्तान् गुणान् विभजते-**चक्षु**रिति । चक्षुर्मात्रग्राह्यत्वे सति गुणत्वं रूपलक्षणम् । अत्र ग्रहधातोर्ज्ञानरूपोऽर्थः । अग्रे समागतस्य '**कुहलोर्ण्यत्**' इति ण्यत्प्रत्ययस्य विषयरूपोऽर्थः । **चक्षुर्मात्र**शब्दः चक्षुर्मात्रजन्ये लाक्षणिकः । तत एवं वाच्यं-चक्षुर्मात्रजन्यग्रहविषयत्वे सति गुणः । ***ननु*** गुणत्वमित्येवास्तु चक्षुरित्यादि सत्यन्तं पदं माऽस्तु इति चेत् ? ***न,*** रूपातिरिक्तत्रयोविंशतिगुणेषु अतिव्याप्तिप्रसङ्गात् । ***ननु*** गुणपदं माऽस्तु इति चेत् ? ***न,*** येन येन इन्द्रियेण ये ये गुणा गृह्यन्ते तेन तेन तद्गता जातयस्तदभावाश्च इति न्यायात् रूपत्वे रूपाभावे चातिव्याप्तिप्रसङ्गात् । तथा मात्रपदोपादानं तु सङ्ख्यादावतिव्याप्तिवारणाय कृतम् । मात्रशब्दं पृथक्कृत्य अयमर्थो विधेयः-चक्षुरितरबहिरिन्द्रियजन्यग्रहाविषयत्वे सति चक्षुर्जन्य-ग्रहविषयत्वे सति गुणत्वं रूपलक्षणम् । सङ्ख्यादौ चक्षुरितर-

बहिरिन्द्रियजन्यग्रहस्याविषयत्वं नास्ति । चक्षुषः सकाशाद् इतरद् बहिर्द्रव्यं किं भवति ? त्वगादिकम्, तज्जन्यो यो ग्रहो ज्ञानं, तस्य विषयत्वं वर्तते । अन्यैरिन्द्रियैः कृत्वापि सङ्ख्यादिबोधो भवतीत्यर्थः । अतो नातिव्याप्तिः अथैवमुच्यते चेत् प्रभाभित्तिसंयोगेऽतिव्याप्तिः, तदर्थं 'विशेष'पदं वाच्यम् । ततः किंलक्षणम् ? चक्षुरितरबहिरिन्द्रियजन्यग्रहाविषयत्वे सति चक्षुर्जन्य-ग्रहविषयत्वे सति विशेषगुणत्वं रूपलक्षणम् । संयोगस्तावत् सामान्यगुणः इति कृत्वा तत्र नातिव्याप्तिः । ***ननु*** विशेषपदेनैव सङ्ख्यादावपि अतिव्याप्त्यभावो भविष्यति सङ्ख्यादेः सामान्यगुणत्वात् ततस्तदर्थं 'मात्र'पदग्रहणं व्यर्थमिति चेत् ? ***न,*** मात्रपदं नोच्यते चेत् सांसिद्धिकद्रवत्वे अतिव्याप्तिः स्यात्, तस्मिन् उक्ते तु तस्य विशेषगुणत्वेऽपि चक्षुरितर-बहिरिन्द्रियजन्यज्ञानस्य अविषयत्वं नास्ति, अतो नातिव्याप्तिः । अथ अस्मिन् लक्षणे चक्षुःपदं नोच्यते चेद् रूपेऽसम्भवदोषः स्यात् । कथम् ? तदाह-त्वगादेः सकाशादितरद् बहिरिन्द्रियं किं भवति ? चक्षुः, तज्जन्यो यो ग्रहो ज्ञानं तद्विषयत्वं वर्तते रूपे न तु तदविषयत्वमित्यसम्भवः । अथ बहिःपदं नोच्यते चेत् पुनरपि रूपे असम्भवः । कथम् ? चक्षुषः साक्षादितरद् इन्द्रियं किं भवति ? मनः, तज्जन्यग्रहाविषयत्वं रूपे नास्ति अतोऽसम्भवः । अथेन्द्रियपदं नोच्यते चेत् पुनरपि रूपेऽसम्भवः । कथम् ? चक्षुषः सकाशाद् इतरो बहिः किं भवति ? कालः, तज्जन्यग्रहाविषयत्वं नास्ति, अतोऽसम्भवः । अथ द्वितीये सत्यन्तपदे चक्षुःपदं नोच्यते चेत् धर्माधर्मयोरतिव्याप्तिः, तयोरात्मगुणत्वात्, तदर्थं चक्षुःपदं वाच्यमेव । ***ननु*** अस्मिन् लक्षणे क्रियमाणे रूपेऽसम्भवदोषस्य तु तादवस्थ्यमेवास्ति । कुतः ? चक्षुषः सकाशादितरद् इन्द्रियं त्वगादि, तज्जन्यं ज्ञानं कीदृग् भवति ? गुणत्वरूपसामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या गुणत्वविशिष्टाः सर्वे गुणा इत्याकारकम् अलौकिकं ज्ञानं भवति, रूपे तु तद्विषयत्वं वर्तते, अतो असम्भवः इति चेद् ***उच्यते,*** चक्षुरितरबहिरिन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्षाविषयत्वे सति चक्षुर्जन्यलौकिकप्रत्यक्षविषयत्वे सति विशेषगुणत्वं रूपलक्षणमित्य-भिमतत्वान्न दोषः । [इति रूपनिरूपणम्]

(रसमारभ्य पृथक्त्वपर्यन्तं फक्किकाकारेण न किञ्चिद् लिखितम्)

[रसनिरूपणम्]

रसनग्राह्यो गुणो रसः । स च मधुराऽऽम्ललवण कटु-कषायतिक्तभेदात् षड्विधः । पृथिवीजलवृत्तिः । तत्र पृथिव्यां षड्विधः । जले मधुर एव ।

रसं लक्षयति-रसनेति । रसत्वे अतिव्याप्तिवारणाय गुणपदम् । रसस्याश्रयमाह-पृथिवीति । आश्रयं विभज्य दर्शयति पृथिव्यामिति ।

[गन्धनिरूपणम्]

घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः । स च द्विविधः सुरभिर-सुरभिश्च । पृथिवीमात्रवृत्तिः ।

गन्धं लक्षयति-घ्राणेति । गन्धत्वे अतिव्याप्तिवारणाय गुणपदम् ।

[स्पर्शनिरूपणम्]

त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः । स च त्रिविधः । शीतोष्णाऽनुष्णाऽशीतभेदात् । पृथिवीजल-तेजोवृत्तिः । तत्र शीतो जले । उष्णस्तेजसि । अनुष्णा-शीतः पृथिवीवाय्वोः ।

स्पर्शं लक्षयति-त्वगिति । स्पर्शत्वे अतिव्याप्तिवारणाय गुणपदम् । संयोगादौ अतिव्याप्तिवारणाय मात्रपदम् ।

[पाकजनिरूपणम्]

रूपादिचतुष्टयं पृथिव्यां पाकजमनित्यं च । अन्यत्रा-

पाकजं नित्यमनित्यं च । नित्यगतं नित्यम् । अनित्य-गतमनित्यम् ।

पाकजमिति । पाकः-तेजःसंयोगः । तेन पूर्वरूपं नश्यति, रूपान्तरमुत्पद्यते इत्यर्थः । अत्र परमाणुष्वेव पाको, न त्र्यणुकादौ । आमपाकनिक्षिप्ते घटे परमाणुषु रूपान्तरोत्पत्तौ श्यामघटनाशे पुनर्द्व्यणुकादिक्रमेण रक्तघटोत्पत्तिः । तत्र परमाणवः समवायि-कारणम्, तेजःसंयोगोऽसमवायिकारणम्, अदृष्टादिकं निमित्त-कारणम् । द्व्यणुकादिरूपे 'कारणरूपम् असमवायिकारणम्' इति पीलुपाकवादिनो वैशेषिकाः । 'पूर्वघटनाशं विनैव अवयविनि अवयवेषु परमाणुपर्यन्तेषु च युगपद्रूपान्तरोत्पत्तिः इति पिठरपाक-वादिनो नैयायिकाः । अत एव पार्थिवपरमाणुषु रूपादिकमनित्यम् इत्यर्थः । अन्यत्रेति जलादौ इत्यर्थः । नित्यगतमिति परमाणुगतम् इत्यर्थः । अनित्यगतमिति द्व्यणुकादिनिष्ठम् इत्यर्थः । रूपादिचतुष्टयम् उद्भूतं प्रत्यक्षम् । अनुद्भूतम् अप्रत्यक्षम् । उद्भूतत्वं प्रत्यक्षत्वप्रयोजको धर्मः । तदभावः अनुद्भूतत्वम् ।

[सङ्ख्यानिरूपणम्]

एकत्वादिव्यवहारहेतुः सङ्ख्या । सा नवद्रव्य-वृत्तिः । एकत्वादिपरार्धपर्यन्ता । एकत्वं नित्यमनित्यं च । नित्यगतं नित्यम् । अनित्यगतमनित्यम् । द्वित्वादिकं तु सर्वत्रानित्यमेव ।

सङ्ख्यां लक्षयति-एकेति ।

[परिमाणनिरूपणम्]

मानव्यवहाराऽसाधारणं कारणं परिमाणम् । नव-

द्रव्यवृत्ति । तच्चतुर्विधम् । अणु, महत्, दीर्घं, ह्रस्वं चेति ।

परिमाणं लक्षयति-मानेति । परिमाणं विभजते-तच्चेति । भावप्रधानो निर्देशः, अणुत्वं, महत्त्वं, दीर्घत्वं, ह्रस्वत्वं च इत्यर्थः ।

[पृथक्त्वनिरूपणम्]

पृथग्व्यवहारासाधारणं कारणं पृथक्त्वम् । सर्वद्रव्यवृत्ति ।

पृथक्त्वं लक्षयति-पृथगिति । 'इदम् अस्मात्पृथग्' इति व्यवहारकारणम् इत्यर्थः ।

[संयोगनिरूपणम्]

संयुक्तव्यवहारहेतुः संयोगः । सर्वद्रव्यवृत्तिः ।

संयोगं लक्षयति-संयुक्तेति । 'इमौ संयुक्तौ' इति व्यवहारहेतुरित्यर्थः । सङ्ख्यादिलक्षणेषु सर्वत्र दिक्कालादौ अतिव्याप्तिवारणाय असाधारणेति देयम् । संयोगो द्विविधः । कर्मजः संयोगजश्च । आद्यो हस्तक्रियया हस्तपुस्तकसंयोगः । द्वितीयो हस्तपुस्तकसंयोगात् कायपुस्तकसंयोगः । अव्याप्यवृत्तिः संयोगः । स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वम् अव्याप्यवृत्तित्वम् ।

अव्याप्यवृत्तिरिति । स्वात्यन्ताभावाधिकरणवर्तित्वम् अव्याप्यवृत्तित्वम् यथा मूलावच्छेदेन वृक्षे संयोगाभावः, शाखावच्छेदेन संयोगो वर्तते ।

[विभागनिरूपणम्]

संयोगनाशको गुणो विभागः सर्वद्रव्यवृत्तिः ।

विभागं लक्षयति-संयोगेति । कालादौ अतिव्याप्तिवारणाय

गुण इति । रूपादौ अतिव्याप्तिवारणाय संयोगनाशक इति । विभागो द्विविधः । कर्मजो विभागजश्च । आद्यो हस्तक्रियया हस्तपुस्तकविभागः । द्वितीयो हस्तपुस्तकविभागात् कायपुस्तकविभागः ।

[परापरत्वनिरूपणम्]

परापरव्यवहारासाधारणकारणे परत्वाऽपरत्वे । पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवर्त्तिनी । ते द्विविधे । दिक्कृते कालकृते च । दूरस्थे दिक्कृतं परत्वम् । समीपस्थे दिक्कृतमपरत्वम् । ज्येष्ठे कालकृतं परत्वम् । कनिष्ठे कालकृतमपरत्वम् ।

परत्वापरत्वयोर्लक्षणमाह-परापरेति । परव्यवहाराऽसाधारणकारणं परत्वम् । अपरव्यवहाराऽसाधारणकारणम् अपरत्वम् इत्यर्थः । परत्वाऽपरत्वे विभजते-ते द्विविधे इति । दिक्कृतयोः उदाहरणमाह-दूरस्थ इति । कालकृते उदाहरति-ज्येष्ठ इति ।

[गुरुत्वनिरूपणम्]

आद्यपतनाऽसमवायिकारणं गुरुत्वं । पृथिवीजलवृत्ति ।

गुरुत्वं लक्षयति-आद्येति । द्वितीयादिपतनस्य वेगासमवायिकारणत्वाद् वेगे अतिव्याप्तिवारणाय आद्येति ।

आद्यपतनेति । पतनकर्मणः कारणत्रयम् । तत्र समवायिकारणं-लोष्टादिपिण्डो यत्र समवेतं पतनमुत्पद्यते १॥ तत्र लोष्टादौ यद् गुरुत्वं=भारो वर्तते तदसमवायिकारणम्, लोष्टादिसमवेताद् गुरुत्वादेव तस्योत्पद्यमानत्वात् २॥ निमित्तकारणं च आधाराभावादिकम् ३॥

[द्रवत्वनिरूपणम्]

आद्यस्पन्दनाऽसमवायिकारणं द्रवत्वम् । पृथिवी-जलतेजोवृत्ति । तद् द्विविधम् । सांसिद्धिकं नैमित्तिकं चेति । सांसिद्धिकं जले । नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः । पृथिव्यां घृतादावग्निसंयोगजं द्रवत्वम् । तेजसि सुवर्णादौ ।

द्रवत्वं लक्षयति-स्यन्दनेति । स्यन्दनं=प्रस्रवणम् । तेजः-संयोगजं नैमित्तिकम्, तद्भिन्नं सांसिद्धिकम् । पृथिव्यां नैमित्ति-कमुदाहरति घृतादाविति । तेजसि तदाह सुवर्णादाविति ।

स्यन्दनेति । कालादौ अतिव्याप्तिवारणाय **असमवायी**ति । कपालसंयोगादौ अतिव्याप्तिवारणाय **स्यन्दने**ति । स्यन्दनं नाम जलादीनां निम्नाभिसर्पणम् । तत्कारणं त्रेधा । तत्र समवायिकारणं जलादि १ असमवायिकारणं च द्रवीभावः, अद्रवस्वभावानां लोष्टादीनां स्यन्दनायोगात् २ सेतुबन्धाभावादिकं निमित्तकारणम् ३॥

[स्नेहनिरूपणम्]

चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः । जलमात्रवृत्तिः ।

स्नेहं लक्षयति-चूर्णेति । कालादौ अतिव्याप्तिवारणाय गुण इति । रूपादौ अतिव्याप्तिवारणाय चूर्णादिपिण्डीभावेति ।

[शब्दनिरूपणम्]

श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः । आकाशमात्रवृत्तिः । स द्विविधः ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च । तत्र ध्वन्यात्मको भेर्यादौ । वर्णात्मकः संस्कृतभाषादिरूपः ।

शब्दं लक्षयति-श्रोत्रेति । शब्दत्वे अतिव्याप्तिवारणाय गुण इति । रूपादौ अतिव्याप्तिवारणाय श्रोत्रेति । शब्दस्त्रिविधः-संयोगजो, विभागजः, शब्दजश्चेति । तत्र-आद्यो भेरीदण्डसंयोग-जन्यः । द्वितीयो वंशे वाद्यमाने दलद्वयविभागजन्यश्चटचटशब्दः । भेर्यादिदेशमारभ्य श्रोत्रपर्यन्तद्वितीयादिशब्दाः शब्दजाः ।

श्रोत्रग्राह्य इति । ***ननु*** शब्दे क्षणिकत्वं वर्तते, यतः शब्द आद्यक्षणे उत्पद्यते, द्वितीयक्षणे तिष्ठति, तृतीयक्षणे नश्यति । एवं च दूरदेशस्थानां भेर्यादीनां शब्दस्य श्रवणं कथं सङ्गच्छते इति चेद् ? ***उच्यते,*** दूरदेशस्थशब्दमारभ्य कर्णपर्यन्तं शब्दधारा जायते । तत्र वीचितरङ्गन्यायेन उत्तरोतरशब्दं प्रति पूर्वपूर्वशब्दः कारणं भवति । तत्राऽयं शब्दजः शब्दो बोध्यः, तेन नासम्भवः । अत्र नाश्यनाशकभावोऽस्ति, तत्र द्वितीयशब्दः प्रथमस्य नाशकः एवं तृतीयो द्वितीयस्य इत्यादि । ***ननु*** को वा चरमस्य नाशकः ? ***उच्यते,*** चरमशब्द उपान्त्यशब्दस्य नाशकः, उपान्त्यः चरमस्य । एवमन्योन्यं नाश्यनाशकभावो बोध्यः ।

[बुद्धिनिरूपणम्]

सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम् । सा द्विविधा स्मृतिरनुभवश्च । संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः । तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः । स द्विविधः यथार्थोऽयथार्थश्चेति ।

बुद्धेर्लक्षणमाह-सर्वेति । कालादौ अतिव्याप्तिवारणाय गुण इति । रूपादौ अतिव्याप्तिवारणाय सर्वव्यवहार इति । 'जानामि' इत्यनुव्यवसायगम्यज्ञानत्वं लक्षणम् इत्यर्थः । बुद्धि विभजते-सेति ।

स्मृतेर्लक्षणमाह-संस्कारेति । भावनाख्यः संस्कारः । संस्कार-ध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानमिति । घटादिप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिवारणाय संस्कारजन्यमिति । प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिवारणाय मात्रेति ।

अनुभवं लक्षयति-तद्भिन्नमिति । स्मृतिभिन्नं ज्ञानमनुभव

इत्यर्थः । अनुभवं विभजते-स द्विविध इति ।

तद्भिन्नमिति । स्मृतिभिन्नत्वे सति ज्ञानत्वम् अनुभवस्य लक्षणम् । स्मृतावतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तम् । घटादौ अतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानपदम् ।

[यथार्थानुभवलक्षणम्]

तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः । यथा 'अयं घटः' इति ज्ञानम् । सैव प्रमेत्युच्यते ।

यथार्थानुभवं लक्षयति-तद्वतीति । ननु 'घटे घटत्वम्' इति प्रमायाम् अव्याप्तिः, घटत्वे घटाऽभावाद् इति चेत् ? न, 'यत्र यत्सम्बन्धोऽस्ति तत्र तत्सम्बन्धानुभवः' इत्यर्थात् घटत्वेऽपि घट-सम्बन्धोऽस्ति इति नाऽव्याप्तिः । स एवेति यथार्थानुभव एव शास्त्रे 'प्रमा' इत्युच्यते इत्यर्थः ।

तद्वतीति । तद्वतीति सप्तम्यन्तस्य तद्वद्विशेष्यकत्वरूपोऽर्थः । तद्वद्विशेष्यकत्वे सति, तत्प्रकारकत्वे सति, स्मृतिभिन्नत्वे सति ज्ञानत्वं 'यथार्थानुभवत्वं' । रजते 'इदं रजतम्' इत्याकारके यथार्थानुभवे वर्तते इदं लक्षणम् । अत्र रजतत्ववद्विशेष्यकत्वं रजतत्वप्रकारकानुभवत्वं च वर्तते । अत्र लक्षणे स्मृतावतिव्याप्तिवारणाय स्मृतिभिन्नेति । शुक्तौ 'इदं रजतम्' इत्याकारके अयथार्थानुभवेऽतिव्याप्तिवारणाय तद्वद्विशेष्यकेति, अत्र रजतत्ववद्विशेष्यकत्वं नास्ति, 'इदं रजतं शुक्तिस्वरूपं दृश्यते' इत्यत्रातिव्याप्तिः, तद्वारणाय तत्प्रकारकेति । अत्र यद्यपि रजतत्ववद्विशेष्यकत्वं वर्तते तथापि तत्प्रकारकत्वं नास्ति, किन्तु शक्तित्वप्रकारकत्वं भासते । अथ 'इदं रजतं मे भवतु' इति इच्छायामतिव्याप्तिः, तद्वारणाय ज्ञानत्वमिति । यद्यप्यत्र इदंत्वावच्छिन्न-विशेष्यकरजतत्वप्रकारकत्वमस्ति परं ज्ञानत्वं नास्ति । **ननु घटे घटत्व**मिति-अत्र घटत्वं विशेष्यं घटो विशेषणम् । ***इह*** घटप्रकारकत्वे सति, स्मृतिभिन्नत्वे सति ज्ञानत्वं तु अस्ति, परं घटवद्विशेष्यकत्वं नास्ति, कुतः ? घटत्वे घटाभावात्, एतेनाव्याप्तिः । ***मैवम्,*** यथार्थानुभवस्यायमर्थो विवक्षितः 'यत्र धर्मिणि यस्य धर्मस्य सम्बन्धोऽस्ति तत्र तत्सम्बन्धस्य अनुभवो यथार्थानुभव उच्यते इति

सम्बन्धस्य उभयनिष्ठत्वं, तेन यद्यपि घटत्वे घटो नास्ति तथापि घटसम्बन्धोऽस्त्येव, स चात्र आधेयताख्यः । **स एवे**ति-सैवेति पाठान्तरं, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गनिर्देशो बोध्यः ।

[अयथार्थानुभवलक्षणम्]

तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः ।

अयथार्थानुभवं निरूपयति-तदभाववतीति । ननु 'इदं संयोगि' इति प्रमायाम् अतिव्याप्तिः इति चेत् ? न, यदवच्छेदेन यत्सम्बन्धाभावः तदवच्छेदेन तत्सम्बन्धज्ञानस्य विवक्षिततत्वात् । संयोगाभावावच्छेदेन संयोगज्ञानस्य भ्रमत्वात् संयोगावच्छेदेन संयोग-सम्बन्धस्य सत्त्वात् नातिव्याप्तिः ।

अयथार्थं लक्षयति-तदभाववद्विशेष्यकत्वे सति इति । ईयान् विशेषः शेषं पूर्ववत् । 'इदं रजतम्' इत्यत्रातिव्याप्तिवारणाय आद्यं पदम् । शुक्तौ 'इदं शुक्तिः' इत्यत्रातिव्याप्तिवारणाय द्वितीयम् । अत्र यद्यपि रजतत्वाभाव-वद्विशेष्यकत्वं वर्तते तथापि रजतत्वप्रकारकत्वं नास्ति । शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति स्मृतावतिव्याप्तिवारणाय स्मृतिभिन्नेति । केनचित् शुक्तिरेव रजतत्वेनावगता, तत 'इदं मे भवतु' इति इच्छा जाता, तत्रातिव्याप्तिवारणाय ज्ञानत्वम् । **ननु इदं संयोगी**ति-'वृक्षः कपिसंयोगी' ***अत्र*** संयोगवद्विशेष्यकत्वे सति संयोगप्रकार-कानुभवत्वं वर्तते, अतः भवतीयं प्रमा, अत्र अप्रमालक्षणं गतम् । कुतः ? संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वात् । ***मैवम्,*** अयथार्थानुभवस्य अयमर्थो विवक्षितः **यदिति**-यन्मूलावच्छेदेन यत्कपिसम्बन्धाभावः, तन्मूलावच्छेदेन तन्मूलकपिसंयोग-सम्बन्धज्ञानं भ्रमज्ञानं भवति । तादृग् ज्ञानम् अत्र मूलावच्छेदेन वर्तते परं शाखावच्छेदेन नास्ति, तेन नातिव्याप्तिः ।

[यथार्थानुभवविभागः]

यथार्थानुभवश्चतुर्विधः प्रत्यक्षाऽनुमित्युपमितिशाब्द-भेदात् ।

यथार्थानुभवं विभजते-यथार्थेति ।

[प्रमाणविभागः]

तत्करणमपि चतुर्विधम् । प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात् ।

प्रसङ्गात् प्रमाकरणं विभजते-तत्करणमिति । प्रमाकरण-मित्यर्थः । प्रमायाः करणं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम् ।

तत्करणमपीति । प्रमाकरणं प्रमाणम् । अत्र च 'करणं प्रमाणम्' इत्युच्यते चेत् कुठारेऽतिव्याप्तिः, सोऽपि छेदं प्रति करणमस्ति, अतो 'मा' पदं वाच्यम् । 'मा' नाम ज्ञानं, तस्याः करणं प्रमाणम् । एवमपि काचकामलदोषदुष्टे चक्षुरिन्द्रियेऽतिव्याप्तिः, 'पीतः शङ्खः' इत्याकारकेऽयथार्थज्ञाने तदपि करणं भवति, अतोऽत्र 'प्र'पदं वाच्यमिति ।

[करणलक्षणम्]

असाधारणं कारणं करणम् ।

करणलक्षणमाह-असाधारणमिति । साधारणे दिक्कालादौ अतिव्याप्तिवारणाय असाधारणमिति ।

[कारणलक्षणम्]

कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम् ।

कारणलक्षणमाह-कार्येति । 'पूर्ववृत्ति कारणम्' इत्युक्ते रासभादौ अतिव्याप्तिः स्याद् अतो नियतेति । तावन्मात्रे कृते कार्ये अतिव्याप्तिः, अतः पूर्ववृत्तीति । ननु तन्तुरूपम् अपि पटं प्रति कारणं स्याद् इति चेत् ? न, 'अनन्यथासिद्धत्वे सति' इति विशेषणात् । अनन्यथासिद्धत्वम् अन्यथासिद्धिविरहः ।

अन्यथासिद्धिः त्रिविधा । तथाहि (१) येन सहैव यस्य यं

प्रति पूर्ववृत्तित्वम् अवगम्यते तं प्रति तेन तद् अन्यथासिद्धम्, यथा तन्तुना तन्तुरूपं तन्तुत्वं च पटं प्रति । (२) अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञाते एव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वम् अवगम्यते तं प्रति तद् अन्यथासिद्धम्, यथा शब्दं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञाते पटं प्रति आकाशस्य । (३) अन्यत्र क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन एव कार्यसम्भवे तत्सहभूतम् अन्यथासिद्धम्, यथा पाकजस्थले गन्धं प्रति रूपप्रागभावस्य । एवं च अनन्यथा-सिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम् ।

कार्येति-कार्यनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम् । दैवादागते रासभेऽति-व्याप्तिवारणाय **नियते**ति । 'कार्यनियतत्वम् कारणत्वम्' इत्युक्ते कार्येऽति-व्याप्तिः, यथा घटे घटनित्यत्वं वर्तते, अतः पूर्ववृत्तीति । ननु तन्तुरूपस्यापि पटं प्रति नियतपूर्ववृत्तित्वं वर्तते तत्रातिव्याप्तिः इति चेत् ? न, **अनन्यथे**ति । रूपस्य पटं प्रति स्वाश्रयतन्तुव्यतिरेकेण पूर्ववृत्तित्वं नास्ति, तन्तून् आदायैव पूर्ववृत्तित्वं वर्तते, अतो रूपमन्यथासिद्धम् । **तथाहि येन सहैवेति । अन्यं प्रतीति** । शब्दं प्रति आकाशस्य पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव घटं प्रति गृह्यते । तत्र तावदाकाशत्वग्रहोऽपेक्षितः, कुतः ? पटं प्रति आकाशस्य आकाशत्वरूपेण पूर्ववृत्तित्वग्रहो भवति । 'तत्र एकव्यक्तिमात्रवृत्तिस्तु न जातिः' इति आकाशत्वं जातिस्तु न, किन्तु शब्दसमवायिकारणत्वम् आकाशत्वम्-शब्दनिरूपितान्यथा-सिद्धिशून्यत्वे सति शब्दाव्यवहितपूर्ववृत्तित्वम् । एवं च पटं प्रति आकाश-स्यान्यथासिद्धत्वम् । **अन्यत्रे**ति-अपाकजस्थले गन्धप्रागभावादेव गन्धसम्भवः स्यात् । ततः पाकजस्थले गन्धप्रागभावस्य सहभूता ये रूपरसस्पर्शप्रागभावाः तेषामन्यथासिद्धत्वं गन्धं प्रति । एवं रसादौ अपि । कार्यमात्रं प्रति प्रागभावत्वेन कारणता । ***ननु*** प्रागभावस्य कारणता किमर्थं स्वीकृता ? ***उच्यते,*** उत्पन्नस्य पुनरुत्पादापतिवारणाय प्रागभावस्य कारणत्वम् । यथा घटोत्पत्तेरनन्तरं दण्डादिसकलसामग्रीसत्त्वेऽपि पुनरपि तदुत्पत्तिर्न, प्रागभावरूपस्य कारणस्य विनष्टत्वात् ।

[कार्यलक्षणम्]

कार्यं प्रागभावप्रतियोगि ।

कार्यलक्षणमाह-कार्यमिति ।

कार्यमिति प्रागभावप्रतियोगित्वम् । उत्पत्तिमत्सु सर्वेषु प्रागभाव-प्रतियोगित्वं वर्तते, यथा घटप्रागभावप्रतियोगित्वं घटे ।

[कारणविभागः]

कारणं त्रिविधम् । समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात् ।

[समवायिकारणलक्षणम्]

यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम् । यथा तन्तवः पटस्य, पटश्च स्वगतरूपादेः ।

[असमवायिकारणलक्षणम्]

कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् कारणमसमवायि कारणम् । यथा तन्तुसंयोगः पटस्य । तन्तुरूपं पटरूपस्य ।

कारणं विभजते-कारणमिति । समवायिकारणलक्षणमाह-यत्समवेतमिति । यस्मिन् समवेतम् इत्यर्थः । असमवायि-कारणलक्षणमाह-कार्येणेति । कार्येणेत्येतद् उदाहरति-तन्तुसंयोग इति । कार्येण पटेन सह एकस्मिन् तन्तौ समवेतत्वात् तन्तुसंयोगः पटस्य असमवायिकारणम् इत्यर्थः । कारणेन सहेत्येतद् उदाहरति-तन्तुरूपमिति । कारणेन पटेन सह एकस्मिन् तन्तौ समवेतत्वात् तन्तुरूपं पटरूपस्य असमवायिकारणम् इत्यर्थः । निमित्तकारणं लक्षयति-तदुभयेति । समवायि-असमवायि-भिन्नकारणं निमित्त-कारणम् इत्यर्थः ।

तन्तुसंयोग इति-तन्तौ पटस्य तन्तुसंयोगस्य च समवेतत्वे सति कारणं तन्तुसंयोगः । स एव पटस्यासमवायिकारणम् । अत्र कारणपदं तन्तुत्वेऽति-

व्याप्तिवारणाय ।

[निमित्तकारणलक्षणम्]

तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम् । यथा तुरीवे-मादिकं पटस्य ।

तदेतत् त्रिविधकारणमध्ये यदसाधारणं कारणं तदेव करणम् ।

करणलक्षणमुपसंहरति-तदेतद् इति ।

[प्रत्यलक्षणम्]

तत्र प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम् । इन्द्रियार्थसन्नि-कर्षज्ञानं प्रत्यक्षम् । ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।

प्रत्यक्षलक्षणमाह-तत्रेति । प्रमाणचतुष्टयमध्ये इत्यर्थः । प्रत्यक्षज्ञानस्य लक्षणमाह-इन्द्रियेति । इन्द्रियं चक्षुरादिकम्, अर्थो घटादिः तयोः सन्निकर्षः संयोगादिः, तज्जन्यं ज्ञानमित्यर्थः ।

तत्रेति प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम् । दण्डादौ अतिव्याप्तिवारणाय **ज्ञाने**ति । अनुमानादौ अतिव्याप्तिवारणाय **प्रत्येति । इन्द्रिये**ति । इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्यत्वे सति ज्ञानत्वं प्रत्यक्षत्वम् । इन्द्रियार्थध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय **ज्ञान**पदम् । अनुमित्यादौ अतिव्याप्तिवारणाय **इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य**मिति ।

[प्रत्यक्षविभागः]

तद् द्विविधं निर्विकल्पकं सविकल्पकं चेति । तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम् । सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्, यथा ''डित्थोऽयम्'' ''ब्राह्मणोऽयम्'' ''श्यामोऽयम्'' इति ।

तद् विभजते-तद् द्विविधमिति । निर्विकल्पकस्य लक्षणमाह-निष्प्रकारकमिति । विशेषणविशेष्यसम्बन्धानवगाहिज्ञानमित्यर्थः । ननु निर्विकल्पके किं प्रमाणम् इति चेत् ? न, 'गौः' इति विशिष्टज्ञानं, विशेषणज्ञानजन्यं-विशिष्टज्ञानत्वात्-'दण्डी' इति ज्ञानवत् इत्यनुमानस्य प्रमाणत्वात् । विशेषणज्ञानस्यापि सविकल्पकत्वे अनवस्था-प्रसङ्गात् निर्विकल्पकत्वसिद्धिः । सविकल्पकं लक्षयति-सप्रकारकमिति । नामजात्यादिविशेषणविशेष्यसम्बन्धावगाहिज्ञानम् इत्यर्थः । सविकल्पकमुदाहरति-यथेति ।

तद् द्विविधमिति । प्रकारताख्यविषयताशालित्वे सति ज्ञानत्वं सविकल्पकत्वम् । प्रकारताख्यविषयताशून्यत्वे सति ज्ञानत्वं निर्विकल्पकत्वम् । घटघटत्वे इत्यभिलापके शब्दे निर्विकल्पकज्ञानं तदतीन्द्रियं भवति, यतः प्राथमिकगोत्वविशिष्टज्ञानात् पूर्वं यद् गोत्वज्ञानं तद्विशेष्यविशेषणसम्बन्धानवगाह्येव भवतीत्यर्थः ।

नन्विति । गौरिति विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यत्वव्याप्यं, यथा दण्डी पुरुष इत्याकारकं दण्डविशिष्टज्ञानम् । तत् कदा भवति ? यदा पूर्वं दण्डो जायते तदा स्यात् । तथाऽत्रापि 'अयं गौः' इत्याकारकं गोत्वविशिष्टज्ञानं गोत्वविशेषणज्ञानजन्यं तद् गोत्वज्ञानं निर्विकल्पकं बोध्यम् ।

नामजात्यादिति । यथाऽयं चैत्रः, अत्र नाम्नो विशेषणत्वं, व्यक्तेर्विशेष्यत्वम् । यथाऽयं ब्राह्मणः, अत्र ब्राह्मणत्वजातेर्विशेषणत्वं, व्यक्तेर्विशेष्यत्वम् ।

[इन्द्रियार्थसन्निकर्षविभागः]

प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसन्निकर्षः षड्विधः । संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावश्चेति ।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षं विभजते-प्रत्यक्षेति ।

[संयोगसन्निकर्षनिरूपणम्]

चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगः सन्निकर्षः ।

संयोगसन्निकर्षम् उदाहरति-चक्षुषेति । द्रव्यप्रत्यक्षे सर्वत्र संयोगः सन्निकर्षः इत्यर्थः । आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियम् अर्थेन । ततः प्रत्यक्षज्ञानम् उत्पद्यते ।

[संयुक्तसमवायसन्निकर्षनिरूपणम्]

घटरूपप्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवायः सन्निकर्षः । चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपस्य समवायात् ।

संयुक्तसमवायमुदाहरति-घटरूपेति । तत्र युक्तिमाह-चक्षुः-संयुक्त इति ।

[संयुक्तसमवेतसमवायसन्निकर्षनिरूपणम्]

रूपत्वसामान्यप्रत्यक्षे संयुक्तसमवेतसमवायः सन्निकर्षः । चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपं समवेतं तत्र रूपस्य समवायात् ।

संयुक्तसमवेतसमवायम् उदाहरति-रूपत्वेति ।

[समवायसन्निकर्षनिरूपणम्]

श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवायः सन्निकर्षः । कर्णविवरवर्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वात्, शब्दस्याकाशगुणत्वात्, गुणगुणिनोश्च समवायात् ।

समवायम् उदाहरति-श्रोत्रेणेति । तदुपपादयति-कर्णेति । ननु दूरस्थशब्दस्य कथं श्रोत्रेण सम्बन्ध इति चेत् ? न, वीचीतरङ्गन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा शब्दाच्छब्दान्तरोत्पत्तिक्रमेण श्रोत्रदेशे जातस्य

श्रोत्रसम्बन्धात् प्रत्यक्षत्वसम्भवात् ।

कदम्बति-यथा कदम्बमुकुलं युगपदेव दशदिक्षु विकसति तथा शब्दोत्पत्तिकाले समकालमेव आद्यशब्दाद् दशशब्दा उत्पद्यन्ते । तैश्चान्ये दशशब्दा उत्पाद्यन्ते इत्यादि ।

[समवेतसमवायसन्निकर्षनिरूपणम्]

शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायः सन्निकर्षः । श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात् ।

समवेतसमवायमुदाहरति-शब्दत्वेति ।

[विशेषणविशेष्यभावसन्निकर्षनिरूपणम्]

अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभावः सन्निकर्षः । घटाभाववद् भूतलमित्यत्र चक्षुःसंयुक्ते भूतले घटाभावस्य विशेषणत्वात् ।

एवं सन्निकर्षषट्कजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम् । तत्करणमिन्द्रियम् । तस्मादिन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणं सिद्धम् ।

विशेषणविशेष्यभावमुदाहरति-अभावेति । तदुपपादयति-घटाभाववद् इति । भूतलं विशेष्यम् । घटाभावो विशेषणम् । 'भूतले घटो नास्ति' इत्यत्र घटाऽभावस्य विशेष्यत्वं द्रष्टव्यम् । एतेन अनुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वं निरस्तम् । 'यद्यत्र घटोऽभविष्यत् तदा भूतलमिवाद्रक्ष्यत्, दर्शनाभावान्नास्ति' इति तर्कितप्रतियोगिसत्त्व-विरोध्यनुपलब्धेः सहकृतेन इन्द्रियेणैव अभावज्ञानोपपत्तौ अनुपलब्धेः प्रमाणाऽन्तरत्वासम्भवात् । अधिकरणज्ञानार्थमपेक्षणीयेन्द्रियस्यैव करणत्वोपपत्तौ अनुपलब्धेः करणत्वस्य अयुक्तत्वात्, विशेषण-विशेष्यभावो विशेषणविशेष्यस्वरूपमेव नातिरिक्तः सम्बन्धः ।

प्रत्यक्षज्ञानमुपसंहरन् तस्य कारणमाह-एवमिति । असाधारण-कारणत्वाद् इन्द्रियं प्रत्यक्षज्ञानकरणम् इत्यर्थः । प्रत्यक्षम् उपसंहरति-तस्माद् इति ।

मीमांसकैः सन्निकर्षपञ्चकं स्वीक्रियते, अभावज्ञानार्थम् अनुपलब्धिः प्रमाणान्तरं च मन्यते । तत्रोच्यते-प्रमाणान्तरं माऽस्तु, 'यदि अत्र घटोऽभविष्यत् तदा भूतलमिवाद्रक्ष्यत्' इति तर्कितं यत् प्रतियोगिसत्त्वं तद्विरोधिनी याऽनुप-लब्धिः तया सहकृतं=विशिष्टं यदिन्द्रियं=चक्षुरिन्द्रियं तेनैव अभावज्ञानोपपत्तिः सिद्धा तदर्थमनुपलब्धेः प्रमाणान्तररत्वं व्यर्थम् । पुनश्च अधिकरणं भूतलम्, तद्ज्ञानार्थम् अपेक्षणीयं यदिन्द्रियं तस्यैव अभावज्ञाने करणत्वोपपत्तौ अनुपलब्धेः करणत्वम् अयुक्तम् । ***ननु*** मीमांसकमते लाघवं वर्तते प्रकृते तु गौरवम्, कुतः ? तेषां मते सन्निकर्षपञ्चकं, प्रकृते तु षट्कम् । पुनश्चात्रापि अनुपलब्धि-रूपः पदार्थः स्वीक्रियते । तथा इन्द्रियेण अभावप्रत्यक्षे जननीये अनुपलब्धेः सहकारित्वं वर्तते इति, ***अत्रोच्यते***-षष्ठः सन्निकर्षो विशेषणविशेष्यभावः, सोऽतिरिक्तः सम्बन्धो नास्ति किन्तु तत्स्वरूपमेव । विशेषणे विशेषणता विशेषणतास्वरूपमेव, विशेष्यता विशेष्यस्वरूपमित्यर्थः ।

॥ इति प्रत्यक्षपरिच्छेदः ॥

[अथानुमानपरिच्छेदः]

[अनुमानलक्षणम्]

अनुमितिकरणम् अनुमानम् ।

अनुमानं लक्षयति-अनुमितिकरणमिति ।

अनुमितीति करणमनुमानमित्युक्ते कुठारेऽतिव्याप्तिः स्यात्, तदर्थं **मिति**पदं वाच्यम् । प्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिवारणाय **'अनु'** पदम् ।

[अनुमितिलक्षणम्]

परामर्शजन्यं ज्ञानम् अनुमितिः ।

अनुमितेर्लक्षणमाह-परामर्शेति । ननु संशयोत्तरप्रत्यक्षे अतिव्याप्तिः । स्थाणुपुरुषसंशयानन्तरं 'पुरुषत्वव्याप्यकरादिमान् अयम्' इति परामर्शे सति 'पुरुष एव' इति प्रत्यक्षजननात् । न च तत्राऽनुमितिरेव इति वाच्यम्, 'पुरुषं साक्षात्करोमि' इत्यनुव्यवसायविरोधाद् इति चेत् ? न, पक्षतासहकृतपरामर्शजन्यत्वस्य विवक्षितत्वात् । सिषाधयिषाविरहसहकृतसिद्ध्यभावः पक्षता । साध्यसिद्धिः अनुमितिप्रतिबन्धिका । सिद्धिसत्त्वेऽपि 'अनुमिनुयाम्' इति इच्छायाम् अनुमितिदर्शनात् सिषाधयिषा उत्तेजिका । ततश्च उत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्य दाहकारणवत् सिषाधयिषाविरहसहकृतसिद्ध्यभावस्यापि अनुमितिकारणत्वम् ।

परामर्शेति । प्रत्यक्षादौ अतिव्याप्तिवारणाय **'परामर्शजन्यम्'** इति, परामर्शध्वंसे अतिव्याप्तिवारणाय **'ज्ञानम्'** इति ।

नन्विति । 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इति संशयात्मकं चतुष्कोटिकं ज्ञानं तावद् भवति । स्थाणुत्वम् (१) स्थाणुत्वाभावः (२) पुरुषत्वम् (३) पुरुषत्वाभावः (४) इति । ततः संशयानन्तरम् एककोटिकं ज्ञानं स्यात् अत्र ['अयम्'] पदार्थः पक्षः, पुरुषत्वं साध्यते, करादिमत्त्वं हेतुरिति । **न चे**ति । अनुमितौ 'अहं पुरुषमनुमिनोमि' इत्याकारकोऽनुव्यवसायः, सोऽत्र नास्ति इत्यनेन नेयमनुमितिः । **पक्षते**ति । पक्षतासहकृतो यः परामर्शः तज्जन्यत्वे सति ज्ञानत्वम् इति लक्षणं विवक्षितं, तेन संशयोत्तरप्रत्यक्षे यद्यपि परामर्शजन्यत्वे सति ज्ञानत्वं वर्तते तथापि पक्षताविशिष्टपरामर्शजन्यत्वे सति ज्ञानत्वं नास्ति, अतो नातिव्याप्तिः ।

ननु पक्षता को वा पदार्थः ? इत्यत आह-**सिषाधयिषे**ति । अनुमितिविषयिणी इच्छा सिषाधयिषा, तद्विरहेण सहकृता या सिद्धिः, तदभावः पक्षता । अनुमितेः समानाकारकं ज्ञानं सिद्धिः । पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नपक्षविशेष्यकसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्यप्रकारकज्ञानं सिद्धिरित्यर्थः । सिद्धेः प्रतिबन्धिका सिषाधयिषा सा उत्तेजिका उच्यते । प्रतिबन्धकप्रतिबन्धकत्वम् उत्तेजकत्वम् ।

[परामर्शलक्षणम्]

व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः । यथा ''वह्निव्याप्यधूमवान् अयं पर्वतः'' इति ज्ञानं परामर्शः । तज्जन्यं ''पर्वतो वह्निमान्'' इति ज्ञानम् अनुमितिः ।

परामर्शं लक्षयति-व्याप्तीति । व्याप्तिविषयकं यत् पक्षधर्मताज्ञानं स परामर्श इत्यर्थः । परामर्शं दर्शयति-यथेति । अनुमितिम् अभिनीय दर्शयति-तज्जन्यमिति । परामर्शजन्यम् इत्यर्थः ।

व्याप्तिविशिष्टेति-शिरोमणिभट्टाचार्यैर्ज्ञानान्तः कर्मधारयः स्वीकृतः । प्रकृतेऽपि तथैव । **उपाध्याय**मते धर्मान्तकर्मधारयाद् भावप्रत्ययः । **मिश्र**मते द्वन्द्वाद् भावप्रत्यय इति ।

[व्याप्तिलक्षणम्]

यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः ।

व्याप्तेर्लक्षणमाह-यत्रेति । 'यत्र धूमः तत्राग्निः' इति व्याप्तेरभिनयः । साहचर्यनियमः इति लक्षणम् । साहचर्यं सामानाधिकरण्यं, तस्य नियमः । हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः इत्यर्थः ।

व्याप्तेर्लक्षणमाह-नियतं साहचर्यं व्याप्तिः । अयं धूमवान् वह्नेरित्यादौ व्यभिचारिणि हेतौ नियतं साहचर्यं नास्ति तेन तत्र नातिव्याप्तिः । **हेत्वि**ति-व्याप्तिः सद्धेतुमात्रवृत्तिर्भवति । सद्धेतौ लक्षणमानेयं, कथम् ? हेतुर्धूमः, तत्सामानाधिकरणो योऽत्यन्ताभावः, वह्नेरत्यन्ताभावस्तु नायाति, तर्हि गोत्वात्यन्ताभावः, तत्प्रतियोगि गोत्वं, परं तदप्रतियोगि किं भवति ? साध्यं वह्निः, तत्सामानाधिकरण्यं वर्तते हेतौ धूमे इति । एवमपि असद्धेतौ नातिव्याप्तिः कथम् ? हेतुर्वह्निः, तत्समानाधिकरणो योऽत्यन्ताभावः धूमात्यन्ताभावोऽप्यायाति,

तप्तायःपिण्डे तथा दर्शनात्, तत्प्रतियोगि साध्यं धूमो वर्तते परं तदप्रतियोगि नास्ति इति कृत्वा नातिव्याप्तिः । ***ननु*** कस्मिंश्चित् सद्धेतौ अपि अव्याप्तिः ? यतोऽयं कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वाद् इत्यत्र इदंत्वरूपेण पक्षता, पक्षे च एतद्वृक्षत्वं वर्तते । ततः कपिसंयोगोऽप्यस्ति इति भवत्ययं सद्धेतुः । अथ हेतुरेतद्वृक्षत्वं तत्समानाधिकरणे योऽत्यन्ताभावः कपिसंयोगात्यन्ताभावोऽप्यायाति, अव्याप्यवृत्तित्वात्, तत्प्रतियोगिसाध्यं कपिसंयोगोऽस्ति, परं तदप्रतियोगि नास्ति, इति कृत्वाऽव्याप्तिः इति चेद् ? ***न,*** व्याप्यवृत्तित्वं प्रतियोगिव्यधिकरणत्वं वाऽभावे विशेषणं निवेश्यं, ततो नाऽव्याप्तिः । व्याप्यवृत्तित्वं नाम अनवच्छिन्न-वृत्तिकत्वम् । प्रतियोगिव्यधिकरणत्वं नाम प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तित्वम् । अथ च कपिसंयोगात्यन्ताभावो यद्यपि हेतुसमानाधिकरणोऽस्ति ततोऽपि व्याप्यवृत्तिर्नास्ति, तेन गोत्वाद्यभावो बोध्यः, अतः परं नाव्याप्तिः । यद्वा कपिसंयोगाभावो यद्यपि हेतुसमानाधिकरणः तथापि प्रतियोग्यधिकरणावृत्तिर्नास्ति, प्रतियोगी कपिसंयोगः, तदधिकरणं वृक्षः, तत्र अवृत्तिर्नास्ति, तेन गोत्वाद्यभावो ग्राह्यः । अथ पुनरपि सद्धेतौ अव्याप्तिः, यथा इदं द्रव्यं, विशिष्टसत्त्वात् । विशिष्टसत्त्वं नाम गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ता । यत्र यत्र विशिष्टसत्त्वं तत्र तत्र द्रव्यत्वं वर्तते द्रव्ये, अत्रेदं लक्षणं नायाति, कथम् ? हेतुर्विशिष्टसत्त्वं, तदधिकरणं यथा द्रव्यं तथा गुणः कर्म च, शुद्धसत्ताविशिष्टसत्तयोरैक्यात्, तन्निष्ठो व्याप्यवृत्तिर्योऽभावः द्रव्यत्वात्यन्ताभावः, तत्प्रतियोगिसाध्यं नास्ति इति कृत्वाऽव्याप्तिः । तदव्याप्ति-वारणाय प्रकृतो हेतुशब्दो हेतुतावच्छेदकावच्छिन्नहेतुपरो बोध्यः । हेतुर्गुण-कर्मान्यत्वविशिष्टसत्ता, हेतुतागुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तायां, हेतुतावच्छेदकं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्वं, तदवच्छिन्नो हेतुर्गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ता, तदधिकरणं द्रव्यमेव न तु गुणकर्मणी, इति नाव्याप्तिः । तत इदं लक्षणं जातं-व्याप्यवृत्तिहेतुतावच्छेदकावच्छिन्नहेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्य-सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः ।

[पक्षधर्मताविभागः]

व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता ।

पक्षधर्मतास्वरूपमाह-व्याप्यस्येति ।

व्याप्यस्येति । व्याप्त्याश्रयो व्याप्यो धूमः तस्य ।

[अनुमानविभागः]

अनुमानं द्विविधम्-स्वार्थं परार्थं च ।

अनुमानं विभजते-अनुमानमिति । तद्द्वैविध्यं दर्शयति-स्वार्थमिति ।

[स्वार्थानुमाननिरूपणम्]

(तत्र) स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः । तथाहि-स्वयमेव भूयोदर्शनेन 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' इति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतः । तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वते धूमं पश्यन् व्याप्तिं स्मरति-'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' इति । तदनन्तरं 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इति ज्ञानमुत्पद्यते । अयमेव 'लिङ्गपरामर्शः' इत्युच्यते । तस्मात् 'पर्वतो वह्निमान्' इति ज्ञान-मनुमितिरुत्पद्यते । तदेतत् स्वार्थानुमानम् ।

तत्रेति-उभयोर्मध्ये इत्यर्थः । स्वार्थानुमितिं लक्षयति- स्वय-मेवेति । भूयोदर्शनेनेति । ननु पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वादौ शतशः सहचारदर्शनेऽपि मण्यादौ व्यभिचारोपलब्धेर्भूयोदर्शनेन कथं व्याप्ति-ग्रहः इति चेत् ? न, व्यभिचारज्ञानविरहसहकृतसहचारज्ञानस्य व्याप्ति-ग्राहकत्वात् । व्यभिचारज्ञानं द्विविधम्-निश्चयः शङ्का च । तद्विरहः क्वचित् तर्कात् क्वचित् स्वतः सिद्ध एव । धूमाग्न्योर्व्याप्तिग्रहे कार्यकारणभावभङ्गप्रसङ्गलक्षणस्तर्को व्यभिचारशङ्कानिवर्तकः । ननु सकलवह्निधूमयोः असन्निकर्षात् कथं व्याप्तिग्रहः इति चेत् ? न, वह्नित्वरूपसामान्यप्रत्यासत्त्या सकलवह्निधूमज्ञानसम्भवात् । तस्मा-

दिति-लिङ्गपरामर्श इति ।

भूयोदर्शनेनेति । भूयस्सु स्थानेषु दर्शनं भूयोदर्शनं, यद्वा भूयसां साध्यसाधनसहचाराणां दर्शनं भूयोदर्शनम् । **नन्वि**ति । ***'यत्र*** यत्र पार्थिवत्वं तत्र तत्र लोहलेख्यत्वम्' इति बहुतरसहचारदर्शने सत्यपि हारकादौ व्यभिचारः, तत्र पार्थिवत्वे सत्यपि लोहलेख्यत्वं नास्ति अतो भूयोदर्शनेन कथं व्याप्तिग्रहः, इति चेत् ? ***न,*** व्यभिचारज्ञानविरहविशिष्टं सहचारज्ञानं व्याप्तिग्राहकमिति विवक्षित-त्वात् । अत्र व्यभिचारज्ञानमात्राभावोऽपेक्षितः, तेन निश्चयात्मकं संशयात्मकं च द्विविधमपि यद् व्यभिचारज्ञानं तदभावो ग्राह्यः । तत्र धूमो वह्निव्यभिचारीति निश्चयः, धूमो वह्निव्यभिचारी वा नेति शङ्का । **तद्विरह** इति । यदि धूमो वह्निव्यभिचारी स्यात् तर्हि वह्निजन्यो न स्यात्, वह्निजन्यत्वाभाववान् स्यादित्यर्थः, इत्ययं तर्को व्यभिचारशङ्कानिवर्तकः । **नन्वि**ति-***ननु*** इन्द्रियाणां सन्निकृष्टार्थ-ग्राहकत्वं, ततश्च निखिलानां वह्नीननां निखिलानां च धूमानां सन्निकर्षाभावात् कथं व्याप्तिग्रहः, इति चेत्, ***न,*** **धूमत्वे**ति अलौकिकसन्निकर्षस्त्रिविधः-सामान्यलक्षणः (१) ज्ञानलक्षणः (२) योगजधर्मश्चेति (३) । अत्र-धूमत्व-वह्नित्वरूपः सामान्यलक्षणोऽलौकिकसन्निकर्षोऽस्ति, तेन कृत्वा सकलानां धूमानां वह्नीनां च ज्ञानस्य सम्भवात् ।

[परार्थानुमाननिरूपणम्]

यत् तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परप्रतिपत्त्यर्थं पञ्चावयववाक्यं प्रयुज्यते तत् परार्थानुमानम् । यथा पर्वतो वह्निमान्-१ । धूमवत्त्वात्-२ । यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम्-३ । तथा चायम्-४ । तस्मात् तथा-५ इति । अनेन प्रतिपादिताल्लिङ्गात् परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते ।

परार्थानुमानमाह-यत्त्विति । यच्छब्दस्य 'तत्परार्थानुमानम्' इति तच्छब्देन अन्वयः । पञ्चावयववाक्यमुदाहरति यथेति ।

यत्त्विति-परप्रतिपत्त्यर्थं=परस्य विप्रतिपत्तिवारणार्थं, विप्रतिपत्तिः संशयः संशयजनकं वाक्यं वा ।

[अवयवविभागः]

प्रतिज्ञा-हेतूदाहरणोपनय-निगमनानि पञ्चा-वयवाः । 'पर्वतो वह्निमान्' इति प्रतिज्ञा । 'धूमवत्त्वाद्' इति हेतुः । 'यो यो धूमवान् स स वह्निमान्' इत्युदा-हरणम् । 'तथा चायम्' इत्युपनयः । 'तस्मात् तथा' इति निगमनम् ।

अवयवस्वरूपमाह-प्रतिज्ञेति । उदाहृतवाक्येषु प्रतिज्ञादि-विभागमाह-पर्वतो वह्निमानिति । साध्यवत्तया पक्षवचनं प्रतिज्ञा । पञ्चम्यन्तं लिङ्गप्रतिपादकं वचनं हेतुः । व्याप्तिप्रतिपादकवचनम् उदाहरणम् । व्याप्तिविशिष्टलिङ्गप्रतिपादकं वचनम् उपनयः । हेतुसाध्यवत्तया पक्षप्रतिपादकं वचनं निगमनम् । पक्षज्ञानं प्रतिज्ञा-प्रयोजनम् । लिङ्गज्ञानं हेतुप्रयोजनम् । व्याप्तिज्ञानम् उदाहरण-प्रयोजनम् । पक्षधर्मज्ञानम् उपनयप्रयोजनम् । अबाधितत्वादिकं निगमनप्रयोजनम् ।

प्रतिज्ञेति-उचितानुपूर्विकप्रतिज्ञादिपञ्चकसमुदायत्वं न्यायत्वम् । व्युत्क्रमोक्तानां न्यायत्वं नास्ति, उचितानुपूर्विकपदोपादानात् । **साध्ये**ति । साध्यवत्त्वेन पक्षप्रतिपादकं वाक्यं प्रतिज्ञा । पञ्चम्यन्तत्वे सति लिङ्गप्रतिपादकत्वं हेतुवाक्यस्य लक्षणम् । पक्षधर्मताज्ञानजनकत्वं उपनयवाक्यत्वम् । अबाधितत्वम् असत्प्रतिपक्षत्वं च निगमनप्रयोजनम् ।

[अनुमितिकरणनिरूपणम्]

स्वार्थानुमितिपरार्थनुमित्योर्लिङ्गपरामर्श एव कर-णम् । तस्माल्लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् ।

अनुमितिकरणमाह-स्वार्थेति । ननु व्याप्तिस्मृतिपक्षधर्मता-ज्ञानाभ्यामेव अनुमितिसम्भवे विशिष्टपरामर्शः किमर्थमङ्गीकर्तव्य इति चेत् ? न, 'वह्निव्याप्यधूमवान् अयम्' इति शाब्दपरामर्शस्थले परामर्शस्यावश्यकतया लाघवेन सर्वत्र परामर्शस्यैव कारणत्वात् । लिङ्गं न करणम्, अतीतानागतादौ व्यभिचारात् । 'व्यापारवत् कारणं करणम्' इति मते परामर्शद्वारा व्याप्तिज्ञानं करणम् । तज्जन्यत्वे तज्जन्यजनको व्यापारः । अनुमानमुपसंहरति-तस्मादिति ।

स्वार्थेति-अत्र पूर्वं पक्षधर्मताज्ञानं, यथा धूमवानयम् । ततश्च व्याप्तिस्मृतिः-यथा वह्निव्याप्तोऽयं धूमः । ततः परामर्शः-यथा वह्निव्याप्य-धूमवानयं पर्वतः । तदनन्तरम् अनुमितिर्जायते । तत्र परामर्शं प्रति आद्यं ज्ञानद्वयं कारणम् । अनुमितिं प्रति परामर्शस्य कारणता इति स्वमतम् । अथ पूर्वपक्षेण मीमांसकमतं दर्शयति-**ननु व्याप्ती**त्यादि । पूर्वं पक्षधर्मताज्ञानं, ततो व्याप्तिस्मृतिः, ताभ्यामेवानुमितिरिति तन्मतम् । अत्रोच्यते 'वह्निव्याप्यवानयम्' इति निर्धर्मतावच्छेदकः शब्दजन्यः परामर्शोऽयम्, अत्र आद्यं ज्ञानद्वयं नास्ति, अनुमितिस्तु वर्तते, तर्हि तां प्रति परामर्शस्यैव कारणता भवतामपि स्वीकर्तव्या, अतो गौरवम् । अस्माकं तु लाघवेन सर्वत्र परामर्शस्यैव कारणत्वम् । **लिङ्गमि**ति । ज्ञायमानं लिङ्गं करणमिति प्राचां मतम् । लिङ्गज्ञानं करणमिति नव्याः । प्राचां मते दोषमाह-**अतीते**ति । 'वह्निमान् अतीतधूमात्' अत्रा-नुमितिर्वर्तते, लिङ्गं तु नष्टम्, अतो व्यभिचारः । नव्यमते तु न दोषः, लिङ्गे नष्टेऽपि लिङ्गज्ञानस्य सत्त्वात् । फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणमिति प्राचां मतम् । 'व्यापारवद्' इति नव्यमतम् । नव्यानां मते यो यो व्यापारः स स प्राचां मते करणम् । अत्र परामर्शद्वारा व्याप्तिज्ञानं करणम्, व्याप्तिज्ञानेन अनुमितौ जननीयायां परामर्शो व्यापारः । **तज्जन्यत्वे सती**ति-व्याप्तिज्ञानजन्यत्वे सति व्याप्तिज्ञानजन्या याऽनुमितिः, तज्जनकत्वं वर्तते परामर्शे इति कृत्वा परामर्शो व्यापारः । एवमिन्द्रियेण प्रत्यक्षे जननीये सन्निकर्षो व्यापारः । इन्द्रियजन्यत्वे सति इन्द्रियजन्यं यत् प्रत्यक्षं तज्जनकत्वं वर्तते सन्निकर्षे इति सन्निकर्षो व्यापारः । सादृश्यज्ञानेन उपमितौ जननीयायाम् अतिदेशवाक्यार्थस्मृतिर्व्यापारः । सादृश्यज्ञानजन्यत्वे सति सादृश्यज्ञानजन्या या उपमितिः तज्जनकत्वं वर्तते

अतिदेशवाक्यार्थस्मृतौ इति । पदज्ञानेन शाब्दबोधे जननीये पदजन्य पदार्थस्मृतिर्व्यापारः, पदज्ञानजन्यत्वे सति पदज्ञानजन्यो यः शाब्दबोधः तज्जनकत्वं वर्तते पदजन्यपदार्थस्मृतौ इति पदजन्यपदार्थस्मृतिर्व्यापारः । एवं दण्डेन घटे जननीये भ्रमिर्व्यापारः, दण्डजन्यत्वे सति दण्डजन्यो यो घटस्तज्जनकत्वं वर्तते भ्रम्याम् इति भ्रमिर्व्यापारः । एवं सर्वत्र योज्यम् । अथ कुलालादौ अतिव्याप्तिवारणाय **तज्जन्यत्वे सती**ति । दण्डगतरूपादौ अतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यदलम् ।

अथ परामर्शे व्याप्तिज्ञानजन्यत्वं कया रीत्या तदुच्यते । विशिष्ट-बोधश्चतुर्धा-विशिष्टस्य वैशिष्ट्यम् (१) विशेष्ये विशेषणम्, तत्रापि च विशेषणान्तरम् (२) एकत्र द्वयम् (३) एकविशिष्टेऽपरवैशिष्ट्यम् (४) इति । अत्र विशिष्ट-वैशिष्ट्यबोधः-यथा विशिष्टवैशिष्ट्यवगाहिबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति विशेषणतावच्छेदकप्रकारतानिर्णयत्वेन कारणता-यथा रक्तदण्डवान् पुरुषः । अत्र यथा रक्तत्वविशिष्ट-दण्डवैशिष्ट्यावगाहिबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति दण्डत्वावच्छिन्न-विशेष्यक-रक्तत्वप्रकारकनिर्णयत्वेन कारणता, तथा अत्र व्याप्तिविशिष्टधूम-वैशिष्ट्यवगाहिबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति धूमत्वावच्छिन्न-विशेष्यकव्याप्तिप्रकारक-निर्णयत्वेन कारणता इति ।

[लिङ्गं विभागः]

लिङ्गं त्रिविधम् । अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि चेति ।

लिङ्गं विभजते-लिङ्गमिति ।

[अन्वयव्यतिरेकिलक्षणम्]

अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकि, यथा वह्नौ साध्ये धूमवत्त्वम् । यत्र धूमस्तत्राग्निः, यथा महानसमित्यन्वयव्याप्तिः । 'यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति,' यथा महाह्रद इति व्यतिरेकव्याप्तिः ।

अन्वयव्यतिरेकि लक्षयति-अन्वयेनेति । हेतुसाध्ययोर्व्याप्तिः अन्वयव्याप्तिः । तदभावयोर्व्याप्तिः व्यतिरेकव्याप्तिः ।

हेतुसाध्ययोरिति-धूमो व्याप्यः, वह्निर्व्यापकः, वह्न्यभावो व्याप्यः, धूमाभावो व्यापकः, एते अन्वयव्यतिरेकव्याप्ती बोध्ये ।

[केवलान्वयिलक्षणम्]

अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयि । यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात् पटवत् । अत्र प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिर्नास्ति, सर्वस्यापि प्रमेयत्वादभिधेयत्वाच्च ।

केवलान्वयिनो लक्षणमाह-अन्वयेति । केवलान्वयिसाध्यकं लिङ्गं केवलान्वयि । अत्यताभावाप्रतियोगित्वं केवलान्वयित्वम् । केवलान्वयि उदाहरति-'घटोऽभिधेयः-प्रमेयत्वाद्' इति । ईश्वर-प्रमाविषयत्वं सर्वपदाभिधेयत्वं च सर्वत्रास्तीति व्यतिरेकाभावः ।

केवलेति-केवलान्वयि साध्यं यस्य तत् । ईश्वरस्य प्रमाविषयत्वं सर्वपदानाम् अभिधाविषयत्वं च सर्वत्रास्ति । अभिधा=शब्दशक्तिः ।

[केवलव्यतिरेकिलक्षणम्]

व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकि । यथा पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात् । यद् इतरेभ्यो न भिद्यते न तद् गन्धवत्, यथा जलम् न चेयं तथा, तस्मान्न तथेति । अत्र यद् गन्धवत् तदितरभिन्नमित्यन्वयदृष्टान्तो नास्ति पृथिवीमात्रस्य पक्षत्वात् ।

केवलव्यतिरेकिणो लक्षणमाह-व्यतिरेकेति । केवलव्यतिरेकि उदाहरति-पृथिवीति । ननु 'इतरभेदः प्रसिद्धो न वा ? आद्ये यत्र प्रसिद्धस्तत्र हेतुसत्त्वे अन्वयित्वम्, असत्त्वे असाधारण्यम् । द्वितीये साध्यज्ञानाभावात् कथं तद्विशिष्टाऽनुमितिः ? विशेषणज्ञानाभावे विशिष्टज्ञानानुदयात् । प्रतियोगिज्ञानाभावाद् व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमपि न स्याद् इति चेत् ? न, जलादित्रयोदशान्योन्याभावानां त्रयोदशसु प्रत्येकं प्रसिद्धानां मेलनं पृथिव्यां साध्यते । त्रयोदशत्वावच्छिन्न-साध्यस्य एकाधिकरणवृत्तित्वाभावाद् न अन्वयित्वासाधारण्ये । प्रत्येकाधिकरणप्रसिद्धा साध्यविशिष्टानुमितिः । साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वम् इति । व्यतिरेकव्याप्तिनिरूपणं च यदितरेति ।

केवलव्यतिरेकिण उदाहरणमाह-**पृथिवी**ति । अत्र पृथिवीं पक्षीकृत्य इतरभेदः साध्यते गन्धवत्त्वेन हेतुना । यत्र यत्र इतरभेदाभावः तत्र तत्र गन्धाभावः इति व्यतिरेकव्याप्तिः । उदाहरणं, यद् गन्धवत्त्वेन हेतुना इतरभेदाभाववत् तत् गन्धाभाववत्, यथा जलम् । अयमर्थः-यादृक् स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धेन गन्धवत्त्वं जले तादृग् इतरेष्वपि वर्तते, अतो न इतरभिन्नत्वम् । इयं पृथिवी-तथा इतरभेदाभावव्यापकगन्धाभाववती न, तस्माद् इतरभेदवती एवेयम् । ननु अनुमितेः पूर्वम् इतरभेदः प्रसिद्धो वा नास्ति ? प्रसिद्धश्चेत् तर्हि यत्र आश्रयविशेषे प्रसिद्धः, तत्र गन्धवत्त्वे हेतौ सति अन्वयित्वं स्यात्, केवलं व्यतिरेकव्याप्तिरेव न स्यात् । हेतोरसत्त्वे तु हेतौ असाधारण्यदोषः स्यात् । सर्वसपक्षव्यावृत्तोऽसाधारणः । अथ अनुमितेः पूर्वम् इतरभेदोऽप्रसिद्धश्चेत् तदा साध्यम् इतरभेदः, तस्य तु ज्ञानमेव नास्ति तर्हि कथं साध्यविशिष्टानुमितिः ? **विशेषणेत्या**दि सुगमम् । अन्यच्च इतरभेदाभावस्य प्रतियोगी इतरभेदः, तस्य ज्ञानाभावात् व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमपि न स्यात् । व्यतिरेकव्याप्तेर्लक्षणं साध्याभावः इतरभेदाभावः, तस्य व्यापकीभूतो योऽभावः गन्धाभावः, तस्य प्रतियोगित्वं गन्धे इति । अत्रोच्यते **जलादी**ति-जलाष्टकं गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायपञ्चकं च एते त्रयोदश, तत्र त्रयोदशान्योन्याभावः एकत्र नायाति, किन्तु एकत्र द्वादश द्वादश एवं त्रयोदशसु त्रयोदशापि । अथ पृथिव्यां तेषां मेलनं साध्यते । शेषं सुगमम् ।

[पक्षसपक्षविपक्षलक्षणम्]

सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः । यथा धूमवत्त्वे हेतौ

पर्वतः । निश्चितसाध्यवान् सपक्षः । यथा तत्रैव महानसम् । निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः । यथा तत्रैव महाह्रदः ।

पक्षलक्षणमाह-सन्दिग्धेति । ननु श्रवणानन्तरभाविमननस्थले अव्याप्तिः, तत्र वेदवाक्यैः आत्मनो निश्चितत्वेन सन्देहाभावात् । किञ्च प्रत्यक्षेऽपि वह्नौ यत्र इच्छया अनुमितिः तत्र अव्याप्तिः, इति चेत् ? न, उक्तपक्षताश्रयत्वस्य पक्षलक्षणत्वात् । सपक्षलक्षणमाह-निश्चितेति । विपक्षलक्षणमाह-निश्चितेति ।

सन्दिग्धेति-'आत्मा श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति प्रथमं वेदवाक्यैः श्रवणं, ततो मननं=युक्तिभिः परिचिन्तनं, ततो निदिध्यासनं= श्रुतस्यार्थस्य नैरन्तर्येण दीर्घकालमनुसन्धानम्, तत आत्मसाक्षात्कारः । तत्र श्रवणानन्तरं भावि यन् मननं, तद् अनुमितिरूपं वर्तते, तत्राऽव्याप्तिः, कुतः ? वेदवाक्ये निश्चितत्वेन साध्यस्यात्मनः सन्दिग्धत्वाभावात् । पुनः प्रत्यक्षेऽपि वह्नावित्यत्रापि । अत्र उत्तरम् **उक्ते**ति-साध्यसन्देहः पक्षता इति **प्राचां** मतम् । पक्षताविशिष्टः पक्षः । तन्मते तु उक्ताव्याप्तिस्तदवस्थैव अतः पक्षता-लक्षणं सिषाधयिषेत्यादि स्वीकृतं **नव्यैः** । अथ उक्तपक्षताश्रयत्वं पक्षलक्षणम् । एतेन यदि-सिषाधयिषा स्यात्तर्हि साध्यसन्देहाभावेऽपि अनुमितिः स्यादित्यर्थः, तेन उक्तस्थले नाव्याप्तिः ।

[हेत्वाभासविभागः]

सव्यभिचार-विरुद्ध-सत्प्रतिपक्षाऽसिद्धाबाधिता पञ्च हेत्वाभासाः ।

एवं सद्धेतून् निरूप्य असद्धेतून् निरूपयितुं विभजते-सव्यभिचारेति । अनुमितिप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वं हेत्वाभासत्वम् ।

असद्धेतून् आह **अनुमिती**ति-अनुमितिः तथा तस्या अनुमितेः कारणीभूतं यद् ज्ञानं व्याप्तिज्ञानादिकम् एतदन्यतरस्य प्रतिबन्धकीभूतं यत् यथार्थज्ञानं, तद्विषयत्वं हेत्वाभासत्वं वर्तते पञ्चसु इति हेत्वाभासत्वम् । अत्रानुमितिपदं नोच्यते, 'अनुमितिकारणप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वम्' इत्येवोच्यते चेत् बाधसत्प्रतिपक्षयोः अव्याप्तिः तयोरनुमितिप्रतिबन्धकत्वात् । अथ **तत्कारणे**ति नोच्यते, 'अनुमितिप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वम्' एवोच्यते चेत् सव्यभिचारादित्रयेऽव्याप्तिः, तेषां व्याप्तिज्ञानादिप्रतिबन्धकत्वात् । अथ यथार्थपदं नोच्यते चेत् पर्वतो वह्न्यभाववान् इति भ्रमदशायां सद्धेतोरपि बाधितत्वापत्तिः, अस्य भ्रमात्मकज्ञानस्याप्यनुमितिप्रतिबन्धकत्वात् । हेतोराभासाः दोषाः, यद्वा हेतव इव आभासन्ते इति हेत्वाभासाः दुष्टा हेतव इत्यर्थः ।

[सव्यभिचारलक्षणम्]

सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः । स त्रिविधः साधारणाऽसाधारणाऽनुपसंहारिभेदात् । तत्र साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः । यथा 'पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वाद्' इति । प्रमेयत्वस्य वह्न्यभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात् । सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः । 'यथा शब्दो नित्यः शब्दत्वाद्' इति । शब्दत्वं हि सर्वेभ्यो नित्येभ्योऽनित्येभ्यश्च व्यावृत्तं शब्दमात्रवृत्ति । अन्वय-व्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी । यथा 'सर्वमनित्यं प्रमेयत्वाद्' इति । अत्र सर्वस्यापि पक्षत्वाद् दृष्टान्तो नास्ति ।

सव्यभिचारं विभजते-स त्रिविध इति । साधारणं लक्षयति-तत्रेति । उदाहरति-यथेति । असाधारणं लक्षयति-सर्वेति । अनुपसंहारिणो लक्षणमाह-अन्वयेति ।

[विरुद्धलक्षणम्]

साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः । यथा 'शब्दो नित्यः कृतकत्वाद्' इति । कृतकत्वं हि नित्यत्वाऽभावेनाऽनित्यत्वेन व्याप्तम् ।

विरुद्धं लक्षयति-साध्येति ।

[सत्प्रतिपक्षलक्षणम्]

यस्य साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते स सत्प्रतिपक्षः । यथा 'शब्दो नित्यः श्रावणत्वाच्छब्दवत्' । 'शब्दोऽनित्यः कार्यत्वाद् घटवद्' इति ।

सत्प्रतिपक्षं लक्षयति-यस्येति ।

[असिद्धलक्षणम्]

असिद्धस्त्रिविधः । आश्रयासिद्धः, स्वरूपासिद्धो, व्याप्यत्वासिद्धश्चेति । आश्रयासिद्धो यथा गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजाऽरविन्दवत् इति । अत्र गगनारविन्दमाश्रयः, स च नास्त्येव । स्वरूपासिद्धो यथा शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वाद् रूपवदिति । अत्र चाक्षुषत्वं शब्दे नास्ति शब्दस्य श्रावणत्वात् । सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः । साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः । साध्यसमानाधिकरणाऽत्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम् । साधनवन्निष्ठाऽत्यन्ताऽभावप्रतियोगित्वं साधनाऽव्यापकत्वम् । यथा 'पर्वतो

धूमवान् वह्निमत्त्वाद्' इत्यत्र आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः । तथा हि 'यत्र धूमस्तत्राऽऽर्द्रेन्धनसंयोगः' इति साध्यव्यापकत्वम् । 'यत्र वह्निस्तत्राऽऽर्द्रेन्धनसंयोगो नास्ति' अयोगोलके आर्द्रेन्धनसंयोगाभावाद् इति साधनाऽव्यापकत्वम् । एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वाद् आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः । सोपाधिकत्वाद् वह्निमत्त्वं व्याप्यत्वाऽसिद्धम् ।

असिद्धं विभजते-असिद्ध इति । आश्रयासिद्धमुदाहरति-गगनेति । स्वरूपासिद्धमुदाहरति-शब्द इति । व्याप्यत्वासिद्धस्य लक्षणमाह-सोपाधिक इति । उपाधेर्लक्षणमाह-साध्येति ।

उपाधिश्चतुर्विधः, केवलसाध्यव्यापकः, पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकः, साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकः, उदासीनधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकश्चेति । आद्यः आर्द्रेन्धनसंयोगः । द्वितीयो यथा 'वायुः-प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्' इत्यत्र बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षत्वव्यापकम् उद्भूतरूपवत्त्वम् । तृतीयो यथा-'प्रागभावो-विनाशी-जन्यत्वात्' इत्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्वव्यापकं भावत्वम् । चतुर्थस्तु 'प्रागभावो विनाशी प्रमेयत्वात्' इत्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्वव्यापकं भावत्वम् ।

शब्दो गुणश्चाक्षुषत्वादिति-चाक्षुषत्वं चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयत्वे, तत् शब्दे नास्ति ।

उपाधेर्लक्षणमाह-**साध्यव्यापकत्वे** इत्यादि । **साध्ये**ति-साध्यो धूमः, तत्समानाधिकरणो योऽत्यन्ताभाव आर्द्रेन्धनसंयोगाभावस्तु नायाति, तर्हि घटपटाद्यत्यन्ताभावः, तस्य प्रतियोगित्वं वर्तते घटादौ, अप्रतियोगित्वं वर्तते आर्द्रेन्धनसंयोगे । **साधने**ति-साधनं वह्निः, तद्वत् किम् ? अयोगोलकं, तन्निष्ठो योऽत्यन्ताभाव आर्द्रेन्धनसंयोगात्यन्ताभावः, तत्प्रतियोगित्वं वर्तते आर्द्रेन्धनसंयोगे

इति । उपाधिश्चतुर्विधः **केवले**त्यादि । पक्षधर्मसाधनोभयभिन्नत्वम् उदासीन-धर्मत्वम् । **द्वितीयो यथा वायु**रिति-प्रमेयत्वं घटादौ तत्र प्रत्यक्षत्वमप्यस्ति, प्रमेयत्वं वायौ तत्र न प्रत्यक्षत्वम् इत्ययमसद्धेतुः । पक्षधर्मः को वा ? बहिर्द्रव्यत्वम्, बहिर्द्रव्यत्वम्=आत्ममनोभिन्नद्रव्यत्वम् । यत्र बहिर्द्रव्यत्वे सति प्रत्यक्षत्वं तत्र उद्भूतरूपवत्त्वं वर्तते घटादौ इति साध्यव्यापकता पक्षे । साधनाव्यापकता यथा प्रमेयत्वं वर्तते वायौ, तत्र उद्भूतरूपं नास्ति । **तृतीयो यथा प्रागभावे**ति-यत्र यत्र जन्यत्वं तत्र तत्र अनित्यत्वं वर्तते घटादौ, जन्यत्वं ध्वंसे, तत्रानित्यत्वं नास्ति इत्ययमसद्धेतुः । साधनं किम् ? जन्यत्वम् । यत्र जन्यत्वे सति अनित्यत्वं तत्र भावत्वं वर्तते घटादौ इति साध्यव्यापकत्वम्, जन्यत्वं ध्वंसे तत्र भावत्वं नास्ति इति साधनाव्यापकत्वम् । चतुर्थो **यथा प्रागभावे**ति-यत्र यत्र प्रमेयत्वं तत्र तत्र विनाशित्वं वर्तते घटादौ, प्रमेयत्वं नित्यपदार्थेषु तत्र न विनाशित्वमित्ययमसद्धेतुः । अत्रोदासीनधर्मो जन्यत्वं, यत्र जन्यत्वे सति अनित्यत्वं तत्र भावत्वं वर्तते घटादौ इति साध्यव्यापकत्वम् । प्रमेयत्वं प्रागभावे, तत्र भावत्वं नास्तीति साधनाव्यापकता ।

[बाधितलक्षणम्]

यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण पक्षे निश्चितः स बाधितः । यथा-'वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वाद्' इति । अत्राऽनुष्णत्वं साध्यं, तदभाव उष्णत्वं स्पार्शनप्रत्यक्षेण गृह्यते इति बाधितत्वम् ।

[व्याख्यातमनुमानम्]

बाधितस्य लक्षणमाह-यस्येति । अत्र बाधस्य ग्राह्या-भावनिश्चयत्वेन, सत्प्रतिपक्षस्य विरोधिज्ञानसामग्रीत्वेन साक्षाद् अनुमितिप्रतिबन्धकत्वम् । इतरेषां परामर्शप्रतिबन्धकत्वम् । तत्रापि साधारणस्य अव्यभिचाराभाववत्तया, विरुद्धस्य सामानाधिकरण्या-भाववत्तया, व्याप्यत्वासिद्धस्य विशिष्टव्याप्त्यभाववत्तया, असाधा-रणानुपसंहारिणोर्व्याप्तिसंशयाधायकत्वेन व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकत्वम् । आश्रयासिद्धस्वरूपासिद्धयोः पक्षधर्मताज्ञानप्रतिबन्धकत्वम् । उपाधिस्तु व्यभिचारज्ञानद्वारा व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकः । सिद्धसाधनं तु पक्षताविघटकतया आश्रयासिद्धे अन्तर्भवतीति प्राञ्चः । निग्रह-स्थानान्तरमिति नवीनाः ।

[इति दीपिकायामनुमानपरिच्छेदः]

अत्र बाधस्येति-ग्राह्यमनुष्णत्वं, तदभावः उष्णत्वं, तस्य निश्चयो बाधः, तेन बाधस्य 'वह्निरुष्णत्वाभाववान्' इत्यनुमितेः साक्षात्प्रतिबन्धकत्वम् । तद्वत्ताबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तदभाववत्तानिर्णयत्वेन प्रतिबन्धकता । **सत्प्रति-पक्षस्ये**ति-अत्र परामर्शद्वयं, यथा-नित्यत्वव्याप्यश्रावणत्ववान् अयं शब्दः, अनित्यत्वव्याप्यकार्यत्ववान् अयं शब्दः । अत्रेयं विरोधिज्ञानसामग्री साक्षादनुमितिप्रतिबन्धिका । आद्या तु अनित्यत्वविरोधिनित्यत्वज्ञानसामग्री, द्वितीया तु नित्यत्वविरोध्यनित्यत्वज्ञानसामग्री । एवं च अनुमितिर्न जायते । **तत्रापी**ति-साधारणस्य अव्यभिचाराभावतया व्यभिचारित्वेन व्याप्तिज्ञान-प्रतिबन्धकत्वम् । अव्यभिचरितसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः । साधारणस्तु व्यभिचारी भवति । **विरुद्धस्ये**ति-विरुद्धस्य साध्यसामानाधिकरण्यं नास्ति, व्याप्तौ तु साध्यसामानाधिकरण्यमपेक्षितम् । **व्याप्यत्वासिद्धस्ये**ति-सोपाधि-कस्याव्यभिचरितसाध्यसामानाधिकरण्यं नास्ति तेन व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकत्वम् । **आसाधारणे**ति-द्वयोरपि व्याप्तिसंशयजनकत्वं वर्तते तेन व्याप्तिज्ञान-प्रतिबन्धकत्वम् । पक्षातिरिक्तस्थले साध्यसाधनसहचारस्य साध्याभाव-साधनाभावसहचारस्य च ग्रहाभावात् व्याप्तिसंशयजनकत्वम् । **आश्रये**ति-'गगनारविन्दमरविन्दत्ववत्' इति पक्षधर्मताज्ञानं न भवत्येव आश्रयाभावात् । यथा 'शब्दश्चाक्षुषत्ववान्' इति पक्षधर्मताज्ञानमपि न स्यात्, शब्दे चाक्षुषत्वाभावात् । **उपाधिस्त्विति**-उपाधिव्यभिचारेण साध्यव्यभिचारोऽनुमीयते, यथा-वह्निः धूमव्यभिचारी धूमव्यापकार्द्रेन्धनसंयोगव्यभिचारित्वात् । एवं व्यापकव्यभिचारेण व्याप्यव्यभिचारित्वम् । ननु सिद्धिरप्यनुमितिप्रतिबन्धिका, तस्यां कुत्र अन्तर्भावः इत्याशङ्क्याह-**सिद्धे**ति-सिद्धसाधनं सिद्धिः, तत् पक्षताविघटकं भवति, तेनाश्रयासिद्धेऽत्यन्ताभावः इति प्राञ्चः । नव्यास्तु निग्रहस्थानान्तरमिदम् इत्याहुः । इत्यनुमानम् ।

[अथ उपमानपरिच्छेदः]

[उपमाननिरूपणम्]

उपमितिकरणमुपमानम् । सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमितिः । तत्करणं सादृश्यज्ञानम् । अतिदेशवाक्यार्थस्मरणम् अवान्तरव्यापारः तथाहि-कश्चिद् गवयशब्दवाच्यपदार्थमजानन् कुतश्चिदारण्यकपुरुषाद् 'गोसदृशो गवयः' इति श्रुत्वा वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् गोसदृशं पिण्डं पश्यति । तदनन्तरम् 'अयं गवयशब्दवाच्य' इत्युपमितिरुत्पद्यते ।

[इत्युपमानम्]

उपमानं लक्षयति-उपमितीति ।

[इति दीपिकायामुपमानपरिच्छेदः]

[अथ शब्दपरिच्छेदः]

आप्तवाक्यं शब्दः । आप्तस्तु यथार्थवक्ता । वाक्यं पदसमूहः, यथा-'गामानय शुक्लां दण्डेन' इति । शक्तं पदम् ।

शब्दं लक्षयति-आप्तेति । वाक्यं लक्षयति-वाक्यमिति । पदलक्षणमाह-शक्तमिति ।

शब्दं लक्षयति-**आप्ते**ति । आप्तवाक्यं शब्दप्रमाणस्य लक्षणम् । अनाप्तोक्तेऽतिव्याप्तिवारणाय **आप्ते**ति ।

शक्तमिति-शक्तिमत्पदम्, शाब्दिकानां तु 'सुप्तिङन्तं पदम्' तेन घटमित्यत्र घटपदस्य घटत्वविशिष्टे शक्तिः, 'अम्' इति द्वितीयायाः कर्मत्वे

शक्तिः, एवं च पदद्वयम् । तेषां मते त्वेकमेव पदम् । पदं द्विविधम्-वाचकं पारिभाषिकं च । तत्र ईश्वरीयसङ्केतरूपा या शक्तिस्तयाऽर्थबोधकं यत् पदं तद् वाचकम् । आधुनिकसङ्केतरूपा या परिभाषा तयाऽर्थबाधकं यत् पदं तत् पारिभाषिकं गुणवृद्ध्यादि ।

[शब्दशक्तिलक्षणम्]

अस्मात् पदादयमर्थो बोद्धव्य इति ईश्वरसङ्केतः शक्तिः ।

अर्थस्मृत्यनुकूलपदार्थसम्बन्धः शक्तिः । सा च पदार्थान्तरमिति मीमांसकाः, तन्निरासार्थमाह-अस्मादिति । डित्थादीनामिव घटादीनामपि सङ्केत एव शक्तिः, न तु पदार्थान्तरम् इत्यर्थः । गवादिशब्दानां जातावेव शक्तिः, विशेषणतया जातेः प्रथमम् उपस्थितत्वात्, व्यक्तिलाभस्त्वाक्षेपाद् इति केचित् तन्न, 'गामानय' इत्यादौ वृद्धव्यवहारेण सर्वत्र आनयनादेर्व्यक्तावेव शक्तिसम्भवेन जातिविशिष्टव्यक्तावेव शक्तिकल्पनात् । शक्तिग्रहश्च वृद्धव्यवहारेण । तथा हि, व्युत्पित्सुर्बालो 'गामानय' इत्युत्तमवृद्धवाक्यश्रवणानन्तरं मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्तिमुपलभ्य गवानयनं च दृष्ट्वा मध्यमवृद्धप्रवृत्तिजनकज्ञानस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यजन्यत्वं निश्चित्य 'अश्वमानय' 'गां बधान' इति वाक्यान्तरे आवापोद्वापाभ्यां गोपदस्य गोत्वविशिष्टे शक्तिः, अश्वपदस्य अश्वत्वविशिष्टे शक्तिः इति व्युत्पद्यते । ननु सर्वत्र कार्यपरत्वाद् व्यवहारस्य कार्यवाक्ये एव व्युत्पत्तिः न सिद्धे इति चेत् ? न, 'काञ्च्यां त्रिभुवनतिलको भूपतिः' इत्यादौ सिद्धेऽपि व्यवहारात् । 'विकसितपद्मे मधूनि पिबति मधुकरः' इत्यादौ प्रसिद्धपदसमभिव्याहारात् सिद्धेऽपि मधुकरादिव्युत्पत्तिदर्शनाच्च ।

लक्षणाऽपि शब्दवृत्तिः । शक्यसम्बन्धो लक्षणा । 'गङ्गायां

घोषः' इत्यत्र गङ्गापदवाच्यप्रवाहसम्बन्धादेव तीरोपस्थितौ तीरेऽपि शक्तिर्न कल्प्यते । सैन्धवादौ लवणाश्वयोः परस्परसम्बन्धाभावाद् नानाशक्तिकल्पनम् । लक्षणा त्रिविधा-जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा चेति । यत्र वाच्यार्थस्यान्वयाभावः तत्र जहल्लक्षणा, यथा 'मञ्चाः क्रोशन्ति' । यत्र वाच्यार्थस्याप्यन्वयः तत्र अजहदिति, यथा 'छत्रिणो गच्छन्ति' । यत्र वाच्यैकदेशत्यागेन एकदेशान्वयः तत्र जहदजहदिति यथा 'तत्त्वमसी'ति । गौण्यपि लक्षणैव, लक्ष्यमाणगुणसम्बन्धस्वरूपा । यथा 'अग्निर्माणवक' इति ।

व्यञ्जनापि शक्तिलक्षणान्तर्भूता शब्दशक्तिमूला, अर्थशक्तिमूला च अनुमानादिना अन्यथासिद्धा । तात्पर्यानुपपत्तिः लक्षणाबीजम् । तत्प्रतीतीच्छया उच्चरितत्वरूपतात्पर्यज्ञानं च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः, नानार्थानुरोधात् । प्रकरणादिकं तात्पर्यग्राहकम् ।

'द्वारम्' इत्यादौ 'पिधेहि' इति शब्दाध्याहारः । ननु अर्थज्ञानार्थत्वात् शब्दस्यार्थमविज्ञाय शब्दाध्याहारासम्भवाद् अर्थाध्याहार एव युक्त इति चेत् ? न, पदविशेषजन्यपदार्थोपस्थितेः शब्दज्ञाने हेतुत्वात् । अन्यथा 'घटः कर्मत्वम् आनयनं कृतिः' इत्यत्रापि शाब्दज्ञानप्रसङ्गात् ।

पङ्कजादिपदेषु योगरूढिः । अवयवशक्तिर्योगः । समुदायशक्तिः रूढिः । नियतपद्मत्वज्ञानार्थं समुदायशक्तिः, अन्यथा कुमुदेऽपि प्रयोगप्रसङ्गः । 'इतरान्विते शक्तिः' इति प्राभाकराः । अन्वयस्य वाक्यार्थतया भानसम्भवाद् अन्वयांशेऽपि शक्तिर्न कल्पनीया इति गौतमीयाः ।

अस्मादिति-सङ्केतः इच्छा । एतेन शक्तेर्गुणान्तर्भूतत्वान्न पदार्थान्तरत्वमिति भावः ।

गवादीति-गोपदस्य गोत्वे शक्तिः, न तु व्यक्तौ । व्यक्तीति-

आक्षेपोऽनुमानम् अर्थापत्तिर्वा । **केचिदि**दिति । **प्राभाकराः** । स्वमते तु गोत्वविशिष्टे शक्तिः, व्यक्तावित्यर्थः, न तु जातौ ।

व्युत्पित्सुरिति-उत्तमवृद्ध (१)-मध्यमवृद्ध (२)-बालेषु (३) स्थितेषु सत्सु उत्तमवृद्धेन 'गामानय' इति वाक्ये उक्ते सति मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्तिर्जाता । तामुपलभ्य, गवानयनं च दृष्ट्वा व्युत्पत्तिमिच्छुर्बालो मध्मयवृद्धप्रवृत्तिजनकं ज्ञानं वाक्यजन्यं निश्चित्य, काभ्याम् ? **अन्वये**ति-वाक्यसत्त्वे ज्ञानसत्त्वं वाक्याभावे ज्ञानाभाव इति । **आवापेति**-आवापो गोबन्धनम्, उद्वापोऽश्वानयनं, ताभ्यां, शेषं सुगमम् । **नन्वि**ति-व्यवहारो वाक्यप्रयोगः, तस्य सर्वत्र कार्यपरत्वं कार्यप्रतीतीच्छया उच्चरितत्वं वर्तते, न तु सिद्धप्रतीतीच्छया । ततो व्यवहारस्य कार्यताबोधकपदघटितवाक्ये एव शक्तिः, न सिद्धबोधकपदघटितवाक्ये इति **मीमांसकैकदेशिनः** । तत्र सिद्धोऽपि व्यवहारो दृश्यते **यथा काञ्च्या**मिति-काञ्ची नगरी सिद्धा वर्तते, भूपतिरपि सिद्धोऽस्ति, अत्र वाक्ये कार्यताबोधकं पदमात्रं नास्तीत्यर्थः । पुनः केनचिद् बालेन 'मधुकर'पदार्थमजानता 'विकसिते पद्मे मधुकर' इति श्रुत्वा कदाचिद् विकसिते पद्मे भृङ्गो दृष्टः । ततश्च प्रसिद्धं यद्विकसितपद्मपदं, तत्साहचर्याद् 'अयं मधुकरपदवाच्य इति तस्य शक्तिग्रहो भवति । अत्रापि सिद्धे मधुकरे मधुकरपदशक्तिर्दृश्यते, तेन कार्यवाक्ये एव व्युत्पत्तिरिति नियमो नेत्यर्थः ।

लक्षणेति । यथा शक्तिः शब्दस्य वृत्तिः तथा लक्षणापि शब्दस्य वृत्तिः । **शक्ये**ति-शक्यः पदार्थः, तत्सम्बन्धः । ननु यथा सैन्धवपदस्य लवणे अश्वे च शक्तिस्तथा गङ्गापदस्य प्रवाहे तीरे च शक्तिः कल्पनीया इत्यत आह **गङ्गायां गोष** इति । नन्वेवं सैन्धवादावपि लक्षणा कुतो न इत्याशङ्क्याह **सैन्धवादा**विति । **यत्रेति**-यथा मञ्चपदस्य वाच्योऽर्थो मञ्चः, तस्य क्रोशक्रियायाम् अन्वयः-सम्बन्धो नास्ति, ततो मञ्चस्थे पुरुषे लक्षणा इयं जहती । **यत्रे**ति-लक्ष्यस्य तु अन्वयः स्यादेव परं वाच्यस्याप्यन्वयो यत्र स्यात् तत्राजहती । **यथे**ति-छत्रिपदस्य छत्रिघटितसार्थे लक्षणा । इह गमनक्रियायां छत्रिणां तदितरेषां च अन्वयसम्भवाद् अजहतीयम् । **यत्रे**ति-तत्त्वमसी ति परमात्मजीवात्मनोः अभेदबोधकं वाक्यमिदम् । ***ननु*** अभेदस्तु नायाति परस्परार्थविरोधात्, यतः सर्वज्ञत्वविशिष्टचैतन्यं 'तत्'पदार्थः, किञ्चिज्ज्ञत्व-

विशिष्टचैतन्यं 'त्वं'पदार्थ इति । ***अत्रोच्यते*** इह 'जहदजहती' लक्षणा कार्या ततः 'तत्'पदवाच्यार्थस्य 'त्वं'-पदवाच्यार्थस्य च आद्यांशं त्यक्त्वा उत्तरांशान्वये सति 'चैतन्याभिन्नं चैतन्य'मिति बोधः स्यादिति भावः । **गौणी**ति-लक्षणा सा गौणीत्युच्यते । **अग्नि**रिति-'अग्नि'शब्दस्य अग्निसदृशे लक्षणा, माणवको ब्रह्मचारी । **व्यञ्जने**ति-व्यञ्जनाऽपि कैश्चिद् वृत्त्यन्तरं मन्यते, तन्न इत्यर्थः । **अर्थे**ति-अर्थे या पदस्य शक्तिः तन्मूलभूतापि कैश्चिद् वृत्त्यन्तरं मन्यते तदपि नेत्यर्थः । **अनुमानादिने**ति-इदं पदमेव शक्तम्-असति वृत्त्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वादिति । आदिपदाद् वृद्धव्यवहारादिग्रहः । कुत्रचिदन्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजं, कुत्रचित् तात्पर्यानुपपत्तिर्लक्षणाबीजम् । **तात्पर्ये**ति-वाक्यार्थज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति तात्पर्यज्ञानत्वेन कारणता, कुत इत्याह-**नाने**ति । नानार्थानुसरणात् तात्पर्यग्राहकं तु प्रस्तावादिकं, यथा भोजनसमये 'सैन्धवमानय' इत्युक्ते लवणमानीयते, गमनावसरे तु अश्व इति ।

ननु द्वारमित्युक्ते परस्य कथं शाब्दबोधः ? उच्यते, 'पिधेहि' 'उद्घाटय' इत्यादि शब्दाध्याहारेण द्वारकर्मकं पिधानमुद्घाटनं वेति शाब्दबोध इति भावः । **नन्वि**ति-***ननु*** शब्दाध्याहारस्तु अर्थज्ञानार्थं क्रियते अर्थज्ञानं विना शब्दाध्याहारो न सम्भवति अतः अर्थाध्याहार एव कार्यः, किं शब्दाध्याहारेण इति चेत् ? ***न,*** **पदे**ति-शाब्दज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति पदविशेषजन्यपदार्थोपस्थितित्वेन कारणता इति स्वीक्रियते, न तु अर्थोपस्थितिरेव कारणमिति भावः । अथ पदजन्येति वाच्यं, 'विशेष'पदं व्यर्थमित्याशङ्क्याह **अन्यथे**ति । यथा 'घटमानय' इत्यत्र 'घटकर्मक-आनयनानुकूला कृतिः' इति शाब्दबोधो भवति तथाऽत्रापि स्यादित्यर्थः, यतः उपस्थितिचतुष्टयमुभयत्रापि तुल्यं, परमेकत्र पदविशेषजन्यम्, एकत्र पदजन्यम्, तद् यथा-'घटमानय' इत्यत्र घटपदजन्या घटपदार्थोपस्थितिः (१), द्वितीया ['अम्' प्रत्यय]जन्या कर्मत्वोपस्थितिः (२), धातुजन्या आनयनरूपार्थोपस्थितिः (३), आख्यातजन्या वृत्त्युपस्थितिः (४) । 'घटः कर्मत्व'मित्यादौ आद्या तु प्राग्वत् (१), कर्मत्वपदजन्या कर्मत्वोपस्थितिः (२), ल्युडन्तपदजन्याऽऽनयनरूपार्थोपस्थितिः (३), कृतिपदजन्या कृत्युपस्थितिः (४) इति ।

पदं चतुर्विधम्-यौगिकं (१), रूढं (२), योगरूढं (३), यौगिकरूढं

चेति (४) । पङ्कजेति-पङ्कजनिकर्तरि सरोरुहेऽवयवशक्तिरस्ति, नियतं यत्पद्मत्वज्ञानं तदर्थं समुदायशक्तिरपि, अन्यथा पङ्कजनिकर्तृत्वं भेककुमुदादौ अप्यस्ति, तत्रापि 'पङ्कज'पदप्रयोगप्रसङ्गः स्यादिति भावः ।

इतरेति-इतरेणान्वितः-इतरान्वितः, तत्र शक्तिर्यथा घटपदस्य घटान्वित-कर्मत्वे शक्तिः, 'अम्'पदस्य कर्मत्वान्वितानयने शक्तिः, धातोस्तावद् आनय-नान्वितकृतौ शक्तिरिति । प्रकृते तु घटपदस्य घटत्वविशिष्टे शक्तिः, द्वितीयायाः कर्मत्वे शक्तिः, धातोरानयने शक्तिः, आख्यातस्य कृतौ शक्तिः । एषां पदानामन्वयस्य वाक्यार्थमर्यादया भानं सम्भवत्येव, अतोऽन्वयांशे शक्तिकल्पन-मयुक्तमिति भावः ।

[वाक्यार्थज्ञानहेतुनिरूपणम्]

आकाङ्क्षा योग्यता सन्निधिश्च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः । पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाऽननुभावकत्वम्-आकाङ्क्षा । अर्थाबाधो योग्यता । पदानामविलम्बेनो-च्चारणं सन्निधिः । तथा च आकाङ्क्षादिरहितं वाक्यम-प्रमाणम् । 'यथा गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इति न प्रमाणम्, आकाङ्क्षाविरहात् । 'वह्निना सिञ्चेद्' इति न प्रमाणं, योग्यताविरहात् । प्रहरे प्रहरेऽसहोच्चारितानि 'गामानय' इत्यादि पदानि न प्रमाणम्, सान्निध्याभावात् ।

आकाङ्क्षेति । आकाङ्क्षादिज्ञानमित्यर्थः । अन्यथा आकाङ्क्षादिभ्रमाच्छाब्दभ्रमो न स्यात् । आकाङ्क्षां लक्षयति-पदस्येति । योग्यतालक्षणमाह-अर्थेति । सन्निधिलक्षणमाह पदाना-मिति । अविलम्बेन पदार्थोपस्थितिः सन्निधिः । उच्चारणं तु तदुपयोगितया उक्तम् । 'गौः अश्वः' इति । 'घटः कर्मत्वम्' इत्यपि अनाकाङ्क्षोदाहरणं द्रष्टव्यम् ।

आकाङ्क्षेति । शाब्दबोधत्वावच्छिन्नं प्रति आकाङ्क्षादिज्ञानत्वेन कारणता । **अन्यथे**ति-ज्ञानपदाभावे आकाङ्क्षादिभ्रमे सत्यपि शाब्दबोधो जायते स न स्यात् । **अविलम्बेने**ति-लक्षणं तु एतावदेव । उच्चारणं तु याऽविलम्बेन पदार्थोपस्थितिः तस्या उपयोगि भवति तदर्थमुक्तम् ।

[वाक्यविभागः]

वाक्यं द्विविधं, वैदिकं लोकिकं च । वैदिकम् ईश्वरोक्तत्वात् सर्वमेव प्रमाणम् । लौकिकं तु आप्तोक्तं प्रमाणम्, अन्यदप्रमाणम् ।

वाक्यं विभजते-वाक्यमिति । वैदिके विशेषमाह-वैदिकमीश्वरोक्तत्वादिति । ननु वेदस्य अनादित्वात् कथम् ईश्वरोक्तत्वम् इति चेत् ? न, 'वेदः पौरुषेयः, वाक्यसमूहत्वात्, भारतादिवत्' इत्यनुमानेन पौरुषेयत्वसिद्धेः । न च स्मर्यमाणकर्तृकत्वम् उपाधिः, गौतमादिभिः शिष्यपरम्परया वेदेऽपि सकर्तृत्वस्मरणेन साधनव्यापकत्वात् । 'तस्मात् तपस्तेपानात् त्रयो वेदा अजायन्त' इति श्रुतेः । ननु वर्णा नित्याः 'स एवायं गकारः' इति प्रत्यभिज्ञाबलात्, तथा च कथं वेदस्यानित्यत्वम् इति चेत् ? न, 'उत्पन्नो गकारो नष्टो गकारः' इत्यादि प्रतीत्या वर्णानाम् अनित्यत्वात् 'सोऽयं गकार' इति प्रत्यभिज्ञायाः 'सेयं दीपज्वाला' इतिवत् साजात्यालम्बनत्वात् । वर्णानां नित्यत्वेऽपि आनुपूर्वीविशिष्टवाक्यस्यानित्यत्वाच्च । तस्माद् ईश्वरोक्तो वेदः । मन्वादिस्मृतीनाम् आचाराणां च वेदमूलकतया प्रामाण्यम् । स्मृतिमूलवाक्यानाम् इदानीमनध्ययनात् तन्मूलभूता काचिच्छाखा उच्छिन्ना इति कल्प्यते । ननु पाठ्यमानवेदवाक्योत्सादस्य कल्पयितुमशक्यतया विप्रकीर्णवादस्य अयुक्तत्वाद् इति नित्यानुमेयो वेदो मूलमिति चेत् ? न, तथापि वर्णानुपूर्वीज्ञानाभावेन बोधकत्वासम्भवात् ।

नन्विति । **न चे**ति-यत्र यत्र पौरुषेयत्वं तत्र तत्र स्मर्यमाणकर्तृकत्वं यथा भारते इति साध्यव्यापकत्वम् । वाक्यसमूहत्वं वेदे तत्र स्मर्यमाणकर्तृकत्वं नास्ति इति साधनाव्यापकत्वम् । इत्याक्षेपः । **गौतमादिभि**रिति-वेदेऽपि कश्चन कर्ता तैः स्मर्यते इति साधनाव्यापकत्वं नास्तीति समाधानम् । **नन्वि**ति-योऽतीतकाले कुत्रचिद्देशे दृष्टः । **स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञाबला**दिति-किञ्चिदंशे स्मरणात्मकं किञ्चिदंशेऽनुभवात्मकं यद् ज्ञानं सा प्रत्यभिज्ञा । प्रत्यभिज्ञा अभेदबोधिका भवति । अत्र दशांशे कालांशे च स्मरणं, गकारांशेऽनुभवः । **तथा चे**ति-वर्णानां नित्यत्वे कथं वेदस्यानित्यत्वम् ? यतः वर्णानां समूहः पदं, पदसमूहो वाक्यं, वाक्यसमूहो वेद इति चेत् ? न, **उत्पन्न इत्यादि** । एवं तर्हि प्रत्यभिज्ञाया का गतिस्तत्राह **सोऽय**मिति । प्रत्यभिज्ञायाः सजातीयविषयकत्वं वर्तते तेन 'सोऽयं गकार' इति यः पुरा दृष्टः तत्सजातीयः तत्सदृश इति यावत्, न तु स एवेत्यर्थः, यथा सेयं दीपज्वाला या पुरा दृष्टा तत्सदृशीत्यर्थः । **वर्णाना**मिति-आनुपूर्वी-पू(पो)र्वापर्यभावः । आनुपूर्वीविशिष्टानि यानि वाक्यानि तेषां समूहो वेदः तस्याप्यनित्यत्वमित्यर्थः । एतेन वेदस्य ईश्वरोक्तत्वात् प्रामाण्यम् । ननु स्मृत्यादीनां कथं प्रामाण्यम् ? तत्राह-**मन्वादी**ति-एषामपि मूलभूतः कश्चन वेदोऽस्तीत्यर्थः । ननु साम्प्रतं स वेदो कथं नोपलभ्यते ? इत्यत आह-**स्मृती**ति । ***ननु*** पठ्यमानवेदे स्मृतिमूलवेदवाक्यानां विच्छेदस्तु कल्पयितुं न शक्यते, पुनः स वेदोऽपि विप्रकीर्ण इति वादोऽपि न युक्तः तस्मात् स्मृतिमूलवेदः कदापि न साक्षात् किन्तु सदाऽनुमेय एव इति चेत् ? ***न,*** एवं सति आनुपूर्वीज्ञानं न स्यात् । तदभावे च वाक्यत्वस्य शाब्दबोधजनकत्वं न स्यात्, शाब्दबोधं प्रति आनुपूर्वीज्ञानत्वेन कारणता इति स्वीकारात् ।

[शब्दस्य करणत्वनिरूपणम्]

वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानं, तत्करणं शब्दः ।

[इति शब्दप्रमाणम्]

ननु ''एतानि पदानि-स्मारितार्थसंसर्गवन्ति-आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बकत्वात्-'गामानय दण्डेन' इति मद्वाक्यवत्'' इत्यनुमानादेव संसर्गज्ञानसम्भवात् शब्दो न प्रमाणान्तरमिति चेत् ? न,

अनुमित्यपेक्षया शाब्दज्ञानस्य विलक्षणत्वं 'शब्दात् प्रत्येमि' इत्यनुव्यवसायसाक्षिकस्य सर्वसम्मतत्वात् ।

ननु अर्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरमस्ति 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति दृष्टे, श्रुते वा, पीनत्वान्यथानुपपत्त्या रात्रिभोजनम् अर्थापत्त्या कल्प्यते इति चेत् ? देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात् इत्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य सिद्धत्वात् ।

'शते पञ्चाशद्' इति सम्भवोऽपि अनुमानमेव ।

'इह वटे यक्षस्तिष्ठति' इति ऐतिह्यमपि अज्ञानमूलवक्तृकः शब्द एव ।

चेष्टा अपि शब्दानुमानद्वारा व्यवहारहेतुः इति न मानान्तरम् । तस्मात् प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाश्चत्वार्येव प्रमाणानि ।

[इति दीपिकायां शब्दपरिच्छेदः]

नन्विति । यत्र यत्र आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बकत्वं तत्र तत्र स्मारितार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकत्वं यथा मद्वाक्ये 'गामानय' इत्यादौ, तथा एतेष्वपि पदेषु इति । **अनुमिती**ति-अनुमित्यपेक्षया विजातीयस्य शाब्दबोधस्य सर्वसम्मतत्वं वर्तते । अनुमितौ धूमादग्निमनुमिनोमीत्यनुव्यवसायः, अत्र तु 'शब्दादिममर्थं प्रत्येमि' इत्यनुव्यवसायः अयमेव विलक्षणत्वे साक्षी बोध्यः ।

नन्विति । **देवदत्त** इत्यादि देवदत्तः पक्षः, रात्रिभोजनं साध्यते, दिवा तु भुञ्जानत्वे सति पीनत्वं हेतुः, दिवा रात्रावभोजी दृष्टान्तः । अत्र केवलव्यतिरेकि अनुमानम्-यत्र यत्र रात्रिभोजनाभावः तत्र तत्र दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वाभावः यथा दिवारात्रावभोजिनि पुरुषे, न चात्र देवदत्ते तथा तस्मान्न तथेति । अनेनानुमानेन रात्रिभोजनं सिद्धम् ।

शते इति अधिकसङ्ख्यायां न्यूनसङ्ख्या वर्तते, अत्र सम्भवाख्यं प्रमाणान्तरं कैश्चिन्मन्यते तन्न इत्यर्थः ।

इहेति-अज्ञातो मूलवक्ता यस्य स अज्ञातमूलवक्तृकः शब्द एवात्र

प्रमाणम् ।

चेष्टेति । भ्रूक्षेप-हस्तविन्यास-शिरोधूननादिका चेष्टा तया कृत्वा परस्य शाब्दबोधो जायते, यद्वाऽनुमितिर्जायते, अतः चेष्टायाः प्रमाणान्तरत्वं नास्तीत्यर्थः ।

[अथ प्रामाण्यविचारः]

अथ ज्ञानानां 'तद्वति तत्प्रकारकत्वं स्वतो ग्राह्यं परतो वा इति विचार्यते । तत्र विप्रतिपत्तिः 'ज्ञानप्रामाण्यं तदप्रामाण्याग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यं न वा ? अत्र विधिकोटिः स्वतस्त्वम्, निषेधकोटिः परतस्त्वम् । अनुमानग्राह्यत्वेन सिद्धसाधनवारणाय यावदिति । 'इदं ज्ञानम् अप्रमा' इति ज्ञानेन प्रामाण्यग्रहाद् बाधवारणाय अप्रामाण्याग्राहकेति । 'इदं ज्ञानम् अप्रमा' इति अनुव्यवसायनिष्ठप्रामाण्यग्राहकस्य अप्रामाण्याग्राहकत्वाभावात् स्वतस्त्वं न स्याद् अतः तदिति । तस्मिन् ग्राह्यप्रामाण्याश्रये अप्रामाण्याग्राहकेत्यर्थः । उदाहृतस्थले व्यवसाये अप्रामाण्यग्राहकस्याप्यनुव्यवसाये तदग्राहकत्वात् स्वतस्त्वसिद्धिः । ननु स्वत एव प्रामाण्यं गृह्यते 'घटमहं जानामि' इत्यनुव्यवसायेन घटघटत्वयोरिव तत्सम्बन्धस्यापि विषयीकरणात्, व्यवसायरूपप्रत्यासत्तेस्तुल्यत्वात् । पुरोवर्तिनि प्रकारसम्बन्धस्यैव प्रमात्वपदार्थत्वाद् इति चेत् ? न, स्वतः प्रामाण्यग्रहे 'जलज्ञानं प्रमा न वा' इत्यनभ्यासदशायां प्रमात्वसंशयो न स्यात् । अनुव्यवसायेन प्रामाण्यस्य निश्चितत्वात् । तस्मात् स्वतोग्राह्यत्वाभावात् परतोग्राह्यत्वम् । तथाहि-प्रथमं जलज्ञानानन्तरं प्रवृत्तौ सत्यां जललाभे सति 'पूर्वोत्पन्नं ज्ञानं प्रमा, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा अप्रमा' इति व्यतिरेकिणा प्रमात्वं निश्चीयते । द्वितीयादिज्ञानेषु पूर्वज्ञानदृष्टान्तेन तत्सजातीयत्वलिङ्गेन अन्वयव्यतिरेकिणापि गृह्यते । प्रमाया गुणजन्यत्वम् उत्पत्तौ परतस्त्वम् । प्रमाऽसाधारणकारणं गुणः । अप्रमाऽसाधारणकारणं दोषः । तत्र प्रत्यक्षे विशेषणवद्विशेष्यसन्निकर्षो गुणः । अनुमितौ

व्यापकवति व्याप्यज्ञानम् । उपमितौ यथार्थसादृश्यज्ञानम् । शाब्दज्ञाने यथार्थयोग्यताज्ञानम्, इत्याद्यूहनीयम् । पुरोवर्तिनि प्रकाराभाव-स्यानुव्यवसायेनानुपस्थितत्वात् अप्रमात्वं परत एव गृह्यते । पित्तादिदोषजन्यत्वम् उत्पत्तौ परतस्त्वम् । ननु सर्वेषां ज्ञानानां यथार्थत्वात् अयथार्थज्ञानमेव नास्तीति । न च 'शुक्तौ इदं रजतम्' इति ज्ञानात् प्रवृत्तिदर्शनाद् अन्यथाख्यातिसिद्धिः इति वाच्यम्, रजतस्मृतिपुरोवर्तिज्ञानाभ्यामेव प्रवृत्तिसम्भवात् । उपस्थितेष्ट-भेदाग्रहस्यैव सर्वत्र प्रवर्तकत्वेन 'नेदं रजतम्' इत्यादौ अतिप्रसङ्गा-भावाद् इति चेत् ? न, सत्यरजतस्थले पुरोवर्तिविशेष्यकरजतत्व-प्रकारकज्ञानस्य लाघवेन प्रवृत्तिजनकतया शुक्तावपि रजतार्थिप्रवृत्ति-जनकत्वेन विशिष्टज्ञानस्यैव कल्पनात् ।

[इति तर्कदीपिकायां प्रामाण्यविचारः]

ज्ञानानामिति । अथ ज्ञाननिष्ठं तद्वति तत्प्रकारकत्वरूपं प्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यं परतो वा इति विचार्यते । **तत्रे**ति-तत्रैतत् संशयजनकं वाक्यम् । **ज्ञाने**ति-तस्मिन्प्रामाण्याश्रयेऽप्रामाण्यस्य अग्राहिका या यावती ज्ञानग्राहिका सामग्री तद्ग्राह्यं ज्ञानप्रामाण्यम्, एषा विधिकोटिः । तद्ग्राह्यत्वाभाववद् इति निषेधकोटिः । अत्र विधिकोटि**र्मीमांसकानां**, निषेधकोटि**र्नैयायिकानाम्** । तत्र **मीमांसकानां** मतत्रयम्-प्रभाकरमतम् १, मुरारिमिश्रमतम् २, भट्टमतम् ३ । त्रिष्वपि मतेषु स्वतस्त्वमस्ति परं सामग्र्यां भेदः, यथा प्रभाकरमते ज्ञानमेव ज्ञानग्राहिका सामग्री १, मुरारिमिश्रमते अनुव्यवसायो ज्ञानग्राहिका सामग्री २, भट्टमते ज्ञाततालिङ्ग-कमनुमानं ज्ञानग्राहिका सामग्री ३ । ज्ञाततालिङ्गकमनुमानं यथा घटो ज्ञातः घटविषयकज्ञाततावत्त्वात् । ज्ञानेन विषये ज्ञातता जन्यते । ततो ज्ञाततया कृत्वा ज्ञानमनुमीयते, ज्ञानस्यातीन्द्रियत्वेनाप्रत्यक्षत्वात् । अथ विप्रतिपत्तिशरीरे **यावत्**पदं किमर्थं, तत्राह **अनुमाने**ति । तस्मिन्नप्रामाण्यग्राहिका ज्ञानग्राहिका च सामग्री का वा भवति ? अनुमानं तद्ग्राह्यत्वं प्रामाण्यस्य मतत्रयेऽपि सिद्धं वर्तते । ततश्च विधिकोटौ सिद्धसाधनं दोषः । निषेधकोटौ बाधः । अतो **यावदि**ति-अथानुमानग्राह्यत्वं सिद्धमस्ति, परं यावती ज्ञानग्राहिका सामग्री अनुव्यवसायादिका

तद्ग्राह्यत्वं सिद्धं नास्ति, अतो न दोषः । इदमिति-**अप्रामाण्याग्राहिके**ति-[ग्राहकेति]पदं नोच्यते चेत् विधिकोटौ बाधः, निषेधकोटौ सिद्धसाधनं स्यात् । तथा हि शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति भ्रमज्ञाने अप्रामाण्यग्राहकः 'इदं ज्ञानमप्रमा' इत्यनुव्यवसायोऽस्ति । अथ इदं ज्ञानं 'यावद्ज्ञानग्राहिकासामग्री[ग्राह्यम्] अस्ति, परं प्रामाण्यग्राहकं नास्ति अतो बाधः तद्वारणाय **अप्रामाण्यग्राहके**ति । इदं ज्ञानमप्रमाण्याग्राहकं नास्तीत्यतो न दोषः । इदमिति-अथ शुक्ताविति भ्रमज्ञानेऽप्रामाण्यं, तथाऽस्य य इदमित्याद्यनुव्यवसायस्तत्र प्रामाण्यमस्ति । अथैतत्प्रामाण्यस्य ग्राहकः 'इदं ज्ञानमप्रमेति ज्ञानवानहम्' इत्यनुव्यवसायोऽस्ति सः व्यवसायनिष्ठप्रामाण्यं गृह्णाति, अनुव्यवसायनिष्ठं प्रामाण्यमपि गृह्णाति तेनाऽस्य तृतीयज्ञानस्य अप्रामाण्यग्राहकत्वं नास्ति । ततश्चानुव्यवसायनिष्ठप्रामाण्यस्य स्वतो ग्राह्यत्वं नायाति अतः तदिति । अग्रेतनं सुगमम् । **नन्वि**ति-ननु प्रामाण्यस्य स्वत एव ग्राह्यत्वं कुतः ? इत्याह-**घट**मिति । अयं घट इति ज्ञानं प्राग्जातं, तदनन्तरं 'घटमहं जानामि' इत्यनुव्यवसायो भवति । अथायम् अनुव्यवसायो यथा घटघटत्वे विषयीकरोति तथा घटे यो घटत्वसमवायः तमपि विषयीकरोति । तत्र हेतुमाह-**व्यवसाये**ति । अयं घट इति ज्ञानलक्षणायाः प्रत्यासत्तेरुभयत्र तुल्यत्वात् प्रामाण्यं किमुच्यते तदाह-पुरोवर्तिनि पदार्थे घटादौ यो घटत्वादिसमवायः स एव प्रामाण्यपदार्थः । एतेन स्वतोग्राह्यत्वं दृढीकृतम् ।

अथास्य खण्डनम् । **स्वत** इति-इदं जलमिति प्राथमिकजलज्ञानान्तरं 'जलज्ञानवानहम्' इत्यनुव्यवसायो भवति, तदनन्तरम् इदं जलज्ञानं प्रमात्मकं वा न इति अनावृत्तिदशायां प्रमात्वसंशयः सर्वानुभवसिद्धो वर्तते । अत्र संशयः कीदृग्भवति तदुच्यते, इदंत्वावच्छिन्नविशेष्यकप्रामाण्याभावप्रकारकः संशयः इति । अथ यदि स्वतः प्रामाण्यग्रहः स्यात् तर्हि अयं संशयो न स्यात् । कुत इत्याह-**अनुव्यवसायेने**ति । अथ स्वमतं स्थापयति-**तथा ही**ति-इदं जलमिति प्रथमं जलज्ञानं जातं, तदनन्तरं जलार्थिनः प्रवृत्तिः स्यात् । ततश्च जललाभे सति सोऽनुमानं करोति । तत्र पूर्वोत्पन्नं जलज्ञानं पक्षः, प्रमात्वं साध्यते, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वं हेतुः । अत्र अन्वयव्याप्तिर्नास्ति दृष्टान्ताभावात् । यन्नैवं=प्रमात्मकं न, तन्नैवं=समर्थप्रवृत्तिजनकमपि न इत्यर्थः, यथाऽप्रमात्मकं ज्ञानम् इति व्यतिरेकिणाऽनुमानेन प्रामाण्यमनुमीयते गृह्यते इत्यर्थः । द्वितीयादिज्ञानेषु

अन्वयव्यतिरेकिणापि प्रामाण्यं गृह्यते यथा 'इदं जलज्ञानं' पक्षः, प्रमात्वं साध्यते, तत्सजातीयत्वं लिङ्गं नाम, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वं हेतुः, पूर्वज्ञानं दृष्टान्त इति ।

प्रवृत्तिर्द्विविधा-संवादिनी विसंवादिनी च । तत्र संवादिनी समर्था-सफलेति यावत् । विसंवादिनी-असमर्था-विफला इति प्रामाण्ये परतो ग्राह्यत्वमुक्तम् । प्रमाया उत्पत्तौ गुणजन्यत्वं परतस्त्वम्, अप्रमाया उत्पत्तौ दोषजन्यत्वं परतस्त्वम् । प्रमा चतुर्धा, ततो गुणानामपि चातुर्विध्यं तदाह-**तत्रे**ति । प्रत्यक्षप्रमायां विशेषणवद् यद्विशेष्यं तेन सह यः इन्द्रियसन्निकर्षः स गुणः । अनुमितौ साध्यवति पक्षे साधनज्ञानं गुणः । **योग्यते**ति-एकपदार्थेऽपरपदार्थवत्त्वं योग्यता । शुक्तौ 'इदं रजतम्' इत्यादिभ्रमज्ञानेऽप्रामाण्यं तदपि परतोग्राह्यम्, शुक्तौ 'इदं रजतम्' इत्यत्र पुरोवर्तिनी इदं पदार्थे रजतत्वाभावस्य ज्ञानेनानुपस्थितत्वात् । अत्र 'इदं ज्ञानमप्रमा विसंवादिप्रवृत्तिजनकवाद्' इत्याद्युह्यम् । अप्रमाया उत्पत्तौ पित्तादिदोषजन्यत्वं परतस्त्वम् ।

नन्विति । **न चेति**-प्रवृत्तिं प्रति विशिष्टज्ञानत्वेन कारणताऽस्ति । अथ शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति ज्ञानादपि रजतार्थिनः प्रवृत्तिर्दृश्यतेऽतो भ्रमज्ञानसिद्धिरिति न वाच्यम्, एतादृशस्थले विशिष्टज्ञानं कारणं न स्वीक्रियते किन्तु अगृहीतभेद-ग्रहणस्मरणात्मकं ज्ञानद्वयं प्रवृत्तिं प्रति कारणं तेन न भ्रमज्ञानसिद्धिः । ***ननु*** 'नेदं रजतम्' इत्यादौ ग्रहणस्मरणात्मकं ज्ञानद्वयं वर्ततेऽतस्तत्रापि प्रवृत्त्यापत्ति-रूपोऽतिप्रसङ्ग इति चेत् ? ***न,*** उपस्थिते 'इदं' पदार्थे इष्टं रजतं, तस्य भेदोऽन्योन्याभावः, तस्याग्रहो ज्ञानाभावः, तस्यैव प्रवृत्तिजनकत्वं स्वीकृतम्, तेनोक्तप्रयोगे नातिप्रसङ्गः । तत्र उपस्थितेष्टभेदस्य ज्ञानाभावो नास्ति, ज्ञानं वर्तते इत्यर्थः । एतेन सर्वज्ञानानां यथार्थत्वं दृढीकृतम् ।

अथास्य खण्डनम् **सत्ये**ति-उपस्थितेष्टभेदाग्रहस्य प्रवृत्तिं प्रति कारणत्वे गौरवं स्यात्, अतो लाघवार्थं पुरोवर्तिविशेष्यकरजतत्वप्रकारकज्ञानमेव प्रवृत्तिं प्रति कारणं स्वीकर्तव्यम् । ततश्च सत्यं यद्रजतस्थलं तत्र तु इदं ज्ञानं प्रवृत्तिं प्रति कारणम्, परं शुक्तार्थिनः प्रवृत्तिं प्रति कारणम् इति भ्रमज्ञानसिद्धिः ।

[इति प्रामाण्यविचारः]

[अयथार्थानुभवविभागः]

अयथार्थानुभवस्त्रिविधः । संशयविपर्ययतर्कभेदात् ।

अयथार्थानुभवं विभजते-अयथार्थ इति । स्वप्नस्य मानस-विपर्ययरूपत्वात् न त्रैविध्यविरोधः ।

[संशयलक्षणम्]

एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं संशयः । यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वा इति ।

संशयलक्षणमाह-एकेति । 'घटपटौ' इति समूहालम्बनेऽति-व्याप्तिवारणाय एकेति । 'घटो द्रव्यम्' इत्यादौ अतिव्याप्तिवारणाय विरुद्धेति । पटत्वविरुद्धघटत्ववान् इत्यत्र अतिव्याप्तिवारणाय नानेति ।

संशयलक्षणमाह-**एके**ति । एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानावैशिष्ट्याव-गाहिज्ञानत्वं संशयत्वम् । **घटो द्रव्य**मिति-अत्र घटे घटत्वं वर्तते परमनयोर्विरोधो नास्ति, सहावस्थानमित्युक्तत्वात् । **पटत्वे**ति-अत्र 'इदं'पदार्थो धर्मी । ***ननु*** संशयस्य का वा सामग्री इति चेत् ? ***उच्यते,*** धर्मिज्ञानं १, कोटिस्मृतिः २, उभयकोटिसहचरितधर्मवत्ताज्ञानं च ३ । संशयं प्रति अन्यतरकोटिनिर्णयः प्रतिबन्धकः ।

[विपर्ययलक्षणम्]

मिथ्याज्ञानं विपर्ययः । यथा शुक्तौ इदं रजतम् इति ।

विपर्ययलक्षणमाह-मिथ्येति । तदभाववति तत्प्रकारकनिश्चय इत्यर्थः ।

[तर्कलक्षणम्]

व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः । यथा 'यदि वह्निर्न स्यात् तर्हि धूमोऽपि न स्याद्' इति ।

तर्कलक्षणमाह-व्याप्येति । यद्यपि तर्को विपर्ययेऽन्तर्भवति तथापि प्रमाणानुग्राहकत्वाद् भेदेन कीर्तनम् ।

तर्कं लक्षयति-**व्याप्ये**ति । तर्कस्य व्यभिचारशङ्कानिवारकत्व-द्वाराऽनुमानप्रमाणे उपयोगित्वमस्ति, तेन विपर्ययादयं पृथगुक्तः ।

[स्मृतिविभागः]

स्मृतिरपि द्विविधा । यथार्था अयथार्था चेति । प्रमाजन्या यथार्था । अप्रमाजन्या अयथार्था ।

स्मृतिं विभजते-स्मृतिरिति ।

[समाप्तं बुद्धिनिरूपणम्]

[सुखनिरूपणम्]

सर्वेषामनुकूलतया वेदनीयं सुखम् ।

सुखं लक्षयति-सर्वेषामिति । 'सुख्यहम्' इत्याद्यनु-व्यवसायगम्यं सुखत्वादिकमेव लक्षणम् । यथाश्रुतं तु स्वरूप-कथनमिति द्रष्टव्यम् ।

सर्वेषामिति । सुखत्वादिजातिमत्त्वं सुखादित्वम् ।

[दुःखनिरूपणम्]

प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम् ।

इच्छा कामः । क्रोधो द्वेषः । कृतिः प्रयत्नः ।

[धर्माधर्मनिरूपणम्]

विहितकर्मजन्यो धर्मः । निषिद्धकर्मजन्योऽधर्मः ।

[बुद्ध्यादीनामात्ममात्रविशेषगुणकथनम्]

बुद्ध्यादयो अष्टौ आत्ममात्रविशेषगुणाः बुद्धि-इच्छाप्रयत्नाः नित्या अनित्याश्च । नित्या ईश्वरस्य । अनित्या जीवस्य ।

[संस्कारविभागः]

संस्कारस्त्रिविधः । वेगो भावना स्थितिस्थापक-श्चेति ।

संस्कारं विभजते-संस्कार इति । संस्कारत्वजातिमान् संस्कारः ।

[वेगनिरूपणम्]

वेगः पृथिव्यादिचतुष्टयमनोमात्रवृत्तिः ।

वेगस्याश्रयमाह-वेग इति । वेगत्वजातिमान् वेगः ।

[भावनानिरूपणम्]

अनुभवजन्या स्मृतिहेतुर्भावना, आत्ममात्रवृत्तिः ।

भावनां लक्षयति-अनुभवेति । अनुभवध्वंसे अतिव्याप्ति-वारणाय स्मृतीति । आत्मादौ अतिव्याप्तिवारणाय अनुभवेति । स्मृतेरपि संस्कारजनकत्वं नवीनैरुक्तम् ।

स्मृतेरिति-अनुभवस्य संस्कारजनकत्वं **प्राचां** मतेऽपि, परं **नव्यानां** मते स्मृतेरपि संस्कारजनकत्वम् ।

[स्थितिस्थापकनिरूपणम्]

अन्यथाकृतस्य पुनस्तदवस्थाऽऽपादकः स्थिति-स्थापकः कटादिपृथिवीवृत्तिः ।

[इति गुणाः]

स्थितिस्थापकं लक्षयति-अन्यथेति ।

सङ्ख्यादयोऽष्टौ नैमित्तिकद्रवत्ववेगस्थितिस्थापकाः सामान्य-गुणाः । अन्ये रूपादयो विशेषगुणाः । द्रव्यविभाजकोपाधिद्वय-समानाधिकरणावृत्तिजातिमत्त्वं विशेषगुणत्वम् ।

द्रव्येति-द्रव्यविभाजका नवोपाधयः पृथिवीत्वादयः, तन्मध्ये द्रव्य-विभाजकं यदुपाधिद्वयं पृथिवीत्वं जलत्वं च तत्समानाधिकरणं किं भवति ? द्रव्यत्वम्, सत्ता संयोगविभागादयः, सामान्यगुणाश्च, रूपादयस्तु उपाधिद्रव्य-समानाधिकरणा न भवन्ति, तेषां प्रत्येकवर्तित्वात् । अथ तत्र अवृत्तयो या जातयो रूपत्वादयः, तद्वत्त्वं, विशेषगुणत्वम् ।

[इति तर्कदीपिकायां गुणपदार्थः]

[कर्मनिरूपणम्]

चलनाऽऽत्मकं कर्म । ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुरुत्क्षे-पणम् । अधोदेशसंयोगहेतुरपक्षेपणम् । शरीरसन्निकृष्ट-संयोगहेतुराकुञ्चनम् । शरीरविप्रकृष्टसंयोगहेतुः प्रसारणम् । अन्यत् सर्वं गमनम् ।

कर्मणो लक्षणमाह-चलनेति । उत्क्षेपणादीनां कार्यभेदमाह ऊर्ध्वेति । शरीरेति-वक्रतासम्पादनं कर्म आकुञ्चनम्, ऋजुतासम्पादकं प्रसारणमित्यर्थः ।

पृथिव्यादिचतुष्टयमनोमात्रवृत्ति कर्म । पृथिव्यादिचतुष्टयमनोऽतिरिक्ता-

वृत्तित्वे सति पृथिव्यादिचतुष्टमनोवृत्तित्वं पृथिव्यादिचतुष्टयमनोमात्रवृत्तित्वम् ।

[सामान्यनिरूपणम्]

नित्यमनेकानुगतं सामान्यम् । द्रव्यगुणकर्मवृत्ति । तद् द्विविधं परापरभेदात् । परं सत्ता, अपरं द्रव्यत्वादि ।

सामान्यं लक्षयति-नित्यमिति । संयोगेऽतिव्याप्तिवारणाय नित्यमिति । परमाणुपरिमाणादौ अतिव्याप्तिवारणाय-अनेकेति । अनुगतत्वं समवेतत्वम् । घटाद्यत्यन्ताभावो घटाद्यनुगतोऽपि असमवेत इति न अभावादौ अतिव्याप्तिः ।

नित्यमिति । नित्यत्वे सति अनेकानुगतत्वं सामान्यस्य लक्षणम् । द्वित्वादिसङ्ख्यासंयोगादौ अतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तम् । अथ परमाणुपरिमाणादौ अतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यदलम् । अनेकानुगतत्वं नाम अनेकवृत्तित्व-मित्युच्यते चेत्, अत्यन्ताभावान्योन्याभावयोरतिव्याप्तिः, तयोर्नित्यत्वे सति अनेकवृत्तित्वमस्ति, अतोऽनेकसमवेतत्वमिति वक्तव्यम् । अतः परं न दोषः ।

[विशेषनिरूपणम्]

नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषाः ।

विशेषं लक्षयति-नित्येति ।

[समवायनिरूपणम्]

नित्यसम्बन्धः समवायः । अयुतसिद्धवृत्तिः । ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यत्तदवस्थमपराश्रितमेवावतिष्ठते तौ अयुतसिद्धौ । यथा अवयवाऽवयविनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती, विशेषनित्यद्रव्ये चेति ।

समवायं लक्षयति-नित्येति । संयोगे अतिव्याप्तिवारणाय नित्येति । आकाशादौ अतिव्याप्तिवारणाय सम्बन्ध इति ।

अयुतसिद्धलक्षणमाह-ययोरिति । 'नीलो घटः' इति विशिष्टप्रतीतिः-विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया विशिष्टप्रत्यत्वात् दण्डीतिप्रत्ययवद् इति समवायसिद्धिः । अवयवावयविनाविति । द्रव्यसमवायिकारणम् अवयवः । तज्जन्यं द्रव्यमवयवि ।

[इति समवायपदार्थः]

नित्य इति-नित्यत्वे सति सम्बन्धत्वं समवायसम्बन्धत्वम् । सम्बन्धप्रत्यक्षे यावदाश्रयप्रत्यक्षं कारणं यथा भूतलघटसंयोगे सम्बन्धप्रत्यक्षे वर्तते । घटाकाशसंयोगस्य प्रत्यक्षापत्तिवारणाय यावदिति । ***ननु*** समवायस्तु अतीन्द्रियोऽस्ति अतस्तत्सत्वे किं प्रमाणमिति चेत् ? ***उच्यते,*** अत्रानुमानं प्रमाणमस्ति, तद् यथा **नील** इति-यथा दण्डविशिष्टपुरुषे विशिष्टप्रत्ययत्वं वर्तते, विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषयत्वमपि वर्तते, विशेषणं दण्डः, विशेष्यः पुरुषः, तयोः संयोगसम्बन्धः, तथा विशिष्टप्रत्ययत्वं 'नीलो घट' इति विशिष्टप्रतीतौ वर्तते । ततश्च विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषयत्वमपि वर्तते । तत्र नीलरूपं विशेषणं, घटो विशेष्यः, तयोर्यः सम्बन्धः, संयोगस्तु न भवति, गुणद्रव्य-योस्तदभावात्, द्रव्ययोरेव संयोग इत्युक्तत्वात्, तस्मादत्र संयोगातिरिक्तः कश्चन सम्बन्धः सिद्धः । स समवायो भवति इति समवायसिद्धिः ।

[अभावनिरूपणम्]

अनादिः सान्तः प्रागभावः । उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य । सादिरनन्तः प्रध्वंसः । उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य ।

त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः । यथा भूतले घटो नास्तीति ।

तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः । 'यथा घटः पटो न' इति ।

प्रागभावं लक्षयति-अनादिरिति । आकाशादौ अति-

व्याप्तिवारणाय सान्त इति । घटादौ अतिव्याप्तिवारणाय अनादि-रिति । प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तिः प्रतियोगिजनकः 'भविष्यति' इति व्यवहारहेतुः प्रागभावः ।

ध्वंसं लक्षयति-सादिरिति । घटादौ अतिव्याप्तिवारणाय अनन्त इति । आकाशादौ अतिव्याप्तिवारणाय सादिरिति । प्रतियोगिजन्यः प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तिः ध्वस्त इति व्यवहारहेतुः ध्वंसः ।

अत्यन्ताभावं लक्षयति-त्रैकालिकेति । अन्योन्याभावे अति-व्याप्तिवारणाय संसर्गावच्छिन्नेति । ध्वंसप्रागभावयोरतिव्याप्तिवारणाय त्रैकालिकेति ।

अन्योन्याभावं लक्षयति-तादात्म्येति । प्रतियोगितावच्छेद-कारोप्यसंसर्गभेदात् एकप्रतियोगिकयोरत्यन्ताभावान्योन्याभाव-योर्बहुत्वम् । 'केवलदेवदत्ताभावात् दण्ड्यभावः' इति प्रतीत्या विशिष्टाभावः । 'एकसत्त्वेऽपि द्वौ न स्तः' इति प्रतीत्या द्वित्वा-वच्छिन्नाभावः । संयोगसम्बन्धेन च घटवति समवायसम्बन्धेन घटाभावः । तत्तद्घटाभावाद् घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकसामान्या-भावाश्चातिरिक्तः । एवमन्योन्याभावोऽपि 'घटत्वेन घटो नास्ति' इति व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावो नाङ्गीक्रियते । घटे घटत्वं नास्तीति तस्यार्थः । अतिरिक्तत्वे स केवलान्वयी । सामयिकाभावो-ऽप्यत्यन्ताभाव एव समयविशेषे प्रतीयमानः । घटाभाववति घटानयने अत्यन्ताभावस्य अन्यत्र गमनाभावेऽपि अप्रतीतेर्घटापसरणे सति प्रतीतेर्भूतले घटसंयोगप्रागभावध्वंसयोर्घटात्यन्ताभावप्रतीतिनियामकत्वं कल्प्यते । घटवति तत्संयोगप्रागभावध्वंसयोः असत्त्वाद् अत्यन्ता-भावस्याप्रतीतिः । घटापसरणे च संयोगध्वंससत्त्वात् प्रतीतिरिति ।

''केवलाधिकरणादेव नास्तीति व्यवहारोपपत्तौ अभावो न पदार्थान्तरम्'' इति गुरवः । तन्न, अभावानङ्गीकारे केवलस्य निर्वक्तु-

मशक्यत्वात् । अभावाभावो भाव एव, नातिरिक्तः, अनवस्था-प्रसङ्गात् । ''ध्वंसप्रागभावः प्रागभावध्वंसश्च प्रतियोग्येव'' इति प्राञ्चः । ''अभावाभावस्तु अतिरिक्त एव, तृतीयाभावस्य प्रथमाभाव-रूपत्वात् न अनवस्था'' इति नवीनाः ॥

[इति अभावपदार्थः]

अनादिरिति-प्रतियोगी घटः, तत्समवायिकारणं मृत्पिण्डादि, तत्र घटप्रागभावो वर्तते, पुनः स घटस्य जनकः, 'पुनर्घटो भविष्यति' इति व्यवहारहेतुश्च । ध्वंसोऽपि प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तिः, 'अयं ध्वंसः' इति व्यवहारहेतुश्च । त्रैकालिकत्वे सति संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वम् अत्यन्ता-भावत्वम् । अन्योन्याभावेऽतिव्याप्तिवारणाय तादात्म्यातिरिक्तसंसर्गावच्छिन्नेति वाच्यम् । **प्रतियोगिते**ति-घटात्यन्ताभावस्य प्रतियोगी घटः, घटान्योन्याभावस्यापि प्रतियोगी घटः, एवम् एकः प्रतियोगी ययोस्तौ एकप्रतियोगिकौ, तयोः अत्यन्ता भावान्योन्याभावयोः को भेदः ? तत्रोच्यते, अनयोर्नानात्वमस्ति, कुतः ? संसर्गभेदात् । तथा हि प्रतियोगी घटः, प्रतियोगिता घटे, प्रतियोगितावच्छेदकं घटत्वम् । अथ यथा प्रतियोगितावच्छेदको धर्मः तथा तादृश आरोप्य-संसर्गोऽप्यस्ति, तस्य भेदो वर्तते । यथाऽत्यन्ताभावे संयोगसमवायात्मकः, अन्योन्याभावे तादात्म्यात्मकः, अयं भेदो बोध्यः । **तत्त**दिति-श्यामरक्तादि-घटाभावाद् घटत्वावच्छिन्नः प्रतियोगी यस्य स घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकः, तादृशो यो घटसामान्याभावः, सोऽतिरिक्तः । एवं श्यामरक्तादिघटान्योऽन्याभावाद् घटसामान्योऽन्याभावोऽतिरिक्तः । घटत्वेन पटो नास्तीति व्यवहारेण व्यधि-करणधर्मावच्छिन्नाभावः कैश्चित् पृथङ् मन्यते, ***तन्न,*** अत्यन्ताभावेनैव गतार्थत्वात् । अतिरिक्तत्वे सति तु अभिधेयत्वप्रमेयत्वादिवत् केवलान्वयी समये समये उत्पद्यते नश्यति च । एतादृशो योऽभावः सोऽप्यत्यन्ताभाव एव । **भूतले**ति-भूतलघटसंयोगप्रागभावस्य भूतलघटसंयोगप्रध्वंसस्य चेत्यर्थः । **प्रतीति**रिति-अत्यन्ताभावस्येति शेषः । **केवले**ति-घटाभावो भूतलस्वरूप एव नातिरिक्त इति **प्राभाकराः,** तन्न, अभावो नाङ्गीक्रियते चेत् कैवल्यं निर्वचनं कर्तुं न शक्यते, अतः स स्वीकर्तव्य एवेत्यर्थः । **ध्वंसेति**-घटध्वंसस्य प्रागभावो

घट एव, घटप्रागभावस्य ध्वंसोऽपि घट एवेत्यर्थः । अत्र **नव्या** आहुः **अभावे**ति ।

[अन्येषां पदार्थानां सप्तपदार्थान्तर्भावप्रदर्शनम्]

सर्वेषामपि पदार्थानां यथायथम् उक्तेषु अन्तर्भावात् सप्तैव पदार्था इति सिद्धम् ।

काणादन्यायमतयोर्बालव्युत्पत्तिसिद्धये ।
अन्नम्भट्टेन विदुषा रचितस्तर्कसङ्ग्रहः ॥

[अथ प्रमाणप्रमेयादिषोडशपदार्थानां सप्तपदार्थेष्वन्तर्भावप्रदर्शनम्]

ननु 'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-ऽवयवतर्क निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभासछल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' [ ] इति न्यायशास्त्रे षोडशपदार्था-नामुक्तत्वात् कथं सप्तैव इत्यत आह-सर्वेषामिति । सर्वेषां सप्तस्वेवान्तर्भाव इत्यर्थः । 'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमानःप्रवृत्तिदोष-प्रेत्यभावफल-दुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्' [ ] इति द्वादशविधं प्रमेयम् । प्रवृत्तिर्धर्माधर्मौ । रागद्वेषमोहा दोषाः । द्वेषो मन्युः । मोहः शरीरादौ आत्मत्वभ्रमः । प्रेत्यभावो मरणम् । फलं भोगः । अपवर्गो मोक्षः, स च स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावासमानकालीनदुःख-ध्वंसः । प्रयोजनं सुखप्राप्तिः, दुःखहानिश्च । दृष्टान्तो महानसादिः । प्रामाणिकत्वेन अभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः । निर्णयो निश्चयः । स च प्रमाणफलम् । तत्त्वबुभुत्सोः कथा वादः । उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः । स्वपक्षस्थापनहीना वितण्डा । कथा नाम-नानावक्तृकः पूर्वोत्तरपक्षप्रतिपादकवाक्यसन्दर्भः । अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्यार्थान्तरं प्रकल्प्य दूषणं छलम् । असदुत्तरं जातिः । साधर्म्य-

वैधर्म्य-उत्कर्षा-पकर्ष-वर्ण्यावर्ण्य-विकल्प-साध्य-प्राप्त्यप्राप्ति-प्रसङ्ग-प्रतिदृष्टान्ताऽनुत्पत्ति-संशय-प्रकरणाऽहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्यु-पलब्ध्यनुपलब्धि-नित्यानित्य-कार्यसमजातयः । वादिनोऽपजय-हेतुर्निग्रहस्थानम् । प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरं, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासंन्यासः, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरम्, निरर्थकम्, अविज्ञातार्थम्, अपार्थकम्, अप्राप्तकालं, न्यूनम्, अधिकम्, पुनरुक्तम्, अन-नुभाषणम्, अज्ञानम्, अप्रतिभा, विक्षेपः, मतानुज्ञा, पर्यनु-योज्योपेक्षणं, निरनुयोज्यानुयोगः, अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि । शेषं सुगमम् ।

ननु करतलानलसंयोगे सत्यपि, प्रतिबन्धके सति दाहानुत्पत्तेः शक्तिः पदार्थान्तरम् इति चेत् ? न, प्रतिबन्धकाभावस्य कार्यमात्रे कारणत्वेन शक्तेरनुपयोगात् कारणत्वस्यैव शक्तिपदार्थत्वात् । ननु भस्मादिना कांस्यादौ शुद्धिदर्शनाद् आधेयशक्तिरङ्गीकार्या इति चेत् ? न, भस्मादिसंयोगसमानकालीनाऽस्पृश्यस्पर्शप्रतियोगिकयावदभाव-सहितभस्मादिसंयोगध्वंसस्य शुद्धिपदार्थत्वात् । स्वत्वमपि न पदार्थान्तरम् । यथेष्टविनियोगयोगत्वस्य स्वत्वरूपत्वात् तदवच्छेदकं च प्रतिग्रहादिलब्धत्वमेवेति ।

[विधिनिरूपणम्]

अथ विधिर्निरूप्यते । प्रयत्नजनकचिकीर्षाजनकज्ञानविषयो विधिः । तत्प्रतिपादको लिङ्गादिर्वा । कृत्यसाध्ये प्रवृत्त्यदर्शनात्, कृतिसाध्ये प्रवृत्तिदर्शनात् कृतिसाध्यताज्ञानं प्रवर्तकम् । न च विषभक्षणादौ प्रवृत्तिप्रसङ्गः, इष्टतासाधनतालिङ्गककृतिसाध्यताज्ञानस्य काम्यस्थले विहितकालशुचिजीवित्वनिमित्तज्ञानजन्यस्य नित्य नैमित्तिकस्थले, प्रवर्तकत्वात् । न चाऽननुगमः, स्वविशेषणवत्ता-प्रतिसन्धानजन्यत्वस्यानुगतत्वात् इति गुरवः । तन्न, लाघवेन कृति-

साध्येष्टसाधनताज्ञानस्यैव चिकीर्षाद्वारा प्रयत्नजनकत्वात् । न च नित्ये इष्टसाधनत्वाभावाद् अप्रवृत्तिप्रसङ्गः, तत्रापि प्रत्यवायपरिहारस्य पापक्षयस्य च फलत्वकल्पनात् । तस्मात् कृतिसाधनत्वमेव लिङाद्यर्थः । ननु 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यत्र लिङा स्वर्गसाधनकार्यं प्रतीयते, यागस्याशुतरविनाशनः कालान्तरभावि-स्वर्गसाधनत्वायोगात्, तद् योग्यं स्थायिकार्यमपूर्वमेव लिङाद्यर्थः । कार्यं कृतिसाध्यम् । कृतेः सविषयत्वाद् विषयाकाङ्क्षायां यागो विषयत्वेन अन्वेति । 'कस्य कार्यम्' इति नियोज्याकाङ्क्षायां स्वर्गकामपदं नियोज्यपरतया अन्वेति । कार्यबोद्धा नियोज्यः । तेन ज्योतिष्टोमनामकयागविषयं स्वर्गकामस्य कार्यम् इति वाक्यार्थः सम्पद्यते । वैदिकलिङ्त्वात् 'यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहुयात्' इति नित्यवाक्येऽपि अपूर्वमेव वाच्यं कल्प्यते 'आरोग्यकामो भेषजपानं कुर्यात्' इत्यादौ लौकिक-लिङः क्रियाकार्ये लक्षणा इति चेत् ? न, यागस्याप्ययोग्यतानिश्चयाभावेन साधनतया प्रतीत्यनन्तरं निर्वाहार्थम् अवान्तरव्यापारतयाऽपूर्वकल्पनात् । कीर्तनादिना नाशश्रुतेर्न यागध्वंसो व्यापारः । लोकव्युत्पत्तिबलात् क्रियायामेव कृतिसाध्येष्टसाधनत्वं लिङा बोध्यत इति लिङ्त्वेन विध्यर्थकत्वम् । आख्यातत्वेन यत्नार्थकत्वम् । 'पचति' 'पाकं करोति' इति विवरणदर्शनात् । 'किं करोति ?' इति प्रश्ने 'पचति' इत्युत्तराच्च आख्यातस्य प्रयत्नार्थ-कत्वनिश्चयात् । 'रथो गच्छति' इत्यादौ अनुकूलव्यापारे लक्षणा । 'देवदत्तः पचति' 'देवदत्तेन पच्यते तण्डुलः' इत्यादौ कर्तृकर्मणोर्ना-ख्यातार्थत्वम्, किन्तु तद्गतैकत्वादीनामेव । तयोराक्षेपादेव लाभः । 'प्रजयति' इत्यादौ धातोरेव प्रकर्षे शक्तिः । उपसर्गाणां द्योतकत्वमेव न तु तत्र शक्तिरस्ति ।

पदार्थज्ञानस्य परमप्रयोजनं मोक्षः तथा हि 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुत्या श्रवणादीनां

तत्त्वसाक्षात्कारे हेतुत्वबाधनात् श्रुत्या देहादिविलक्षणात्मज्ञाने सत्यपि असम्भावनानिवृत्तेः, युक्त्यनुसन्धानरूपमननसाध्यत्वात्, मननोपयोगिपदार्थनिरूपणद्वारा शास्त्रस्यापि मोक्षोपयोगित्वम् । तदनन्तरं श्रुत्योपदिष्टयोगविधिना निदिध्यासने कृते, तदनन्तरं देहादिविलक्षणात्मसाक्षात्कारे सति देहादौ अहमभिमानरूपमिथ्याज्ञाननाशे सति दोषाभावात्, प्रवृत्त्यभावे धर्माधर्मयोरभावाद्, जन्माभावे पूर्वधर्माधर्मयोरनुभवेन नाशे चरमदुःखध्वंसरूपो मोक्षो जायते । ज्ञानमेव मोक्षसाधनम् । मिथ्याज्ञाननिवृत्तेर्ज्ञानमात्रसाध्यत्वात् । 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' [ ] इति साधनानन्तरनिषेधाच्च । ननु

'तत्प्राप्तिहेतुर्विज्ञानं कर्म चोक्तं महामुने ।' [ ] इति

कर्मणोऽपि मोक्षसाधनत्वश्रवणात् ज्ञानकर्मणोः समुच्चयः इति चेत् ? न,

नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम् ।
ज्ञानं च विमलीकुर्वन् अभ्यासेन च पाचयेत् ॥ [ ]

अभ्यासात् पक्वविज्ञानं कैवल्यं लभते नरः ॥ [ ]

इत्यादिना कर्मणो ज्ञानसाधनत्वप्रतिपादनात् ज्ञानद्वारैव कर्म मोक्षसाधनम्, न साक्षात् । तस्मात् पदार्थज्ञानस्य न मोक्षः परमप्रयोजनम् इत्येव रमणीयम् ॥

इति श्रीमदन्नंभट्टोपाध्यायविरचिता तर्कसंग्रहदीपिका समाप्ता ॥

अथ गौतमीयप्रमाणप्रमेयादिपदार्थानां सप्तपदार्थान्तर्भावः ।

नन्विति-प्रमाणं चतुर्धा । **संशयः** एकस्मिन् धर्मिणीत्यादिः । **अवयवाः**

पञ्च प्रतिज्ञादयः । **तर्को** व्याप्यारोपेणेति । **आत्मे**ति-अर्थाः-सप्त पदार्थाः । दुःखध्वंसत्वं मोक्षत्वम् एवमुच्यते चेत् अस्मादादीनामप्यात्मनि यत्किञ्चिद् दुःखध्वंसोऽस्ति तत्रापि मोक्षत्वापत्तिः, तदर्थं दुःखध्वंसे प्रागभावासमानकालीनत्वं विशेषणं निवेश्यम् । अथ अस्मादादीनामात्मनि यदा दुःखध्वंसोऽस्ति तस्मिन् काले भाविदुःखप्रागभावोऽप्यस्ति, अतो नातिव्याप्तिः । अथ शुकात्मनि वामदेवात्मनि च चरमदुःखध्वंसोऽस्ति तत्र मोक्षत्वं नायाति, कथम् ? यस्मिन्काले तयोर्दुःखध्वंसः तस्मिन्कालेऽन्येषां बद्धानां संसारिणामात्मनि दुःखप्रागभावो वर्तते, अतः स दुःखध्वंसो दुःखप्रागभावस्य समानकालीनोऽस्ति तेनाऽत्र असम्भवः, तदर्थं दुःखप्रागभावे स्वसमानाधिकरणत्वं विशेषणं निवेश्यम्, अतः परं नासम्भवः । कथम् ? स्वशब्देन संसारिजीवात्मकदुःखध्वंसः, तत्समानाधिकरणे यो दुःखप्रागभावः, तस्य समानकालीनो यो यो दुःखध्वंसः तदन्यदुःखध्वंसो मोक्षः । प्रमाणेन निश्चितोऽर्थः सिद्धान्तः । **तत्त्वे**ति-अत्र विजिगीषा नास्ति । यत्र परपक्षखण्डने तात्पर्यं स्वपक्षस्थापने तु इच्छैव नास्ति सा वितण्डा । **छल**मिति यथा नवकम्बलोऽयम् ।

नन्विति-***ननु*** वह्नौ दाहानुकूला शक्तिरस्ति, सोऽतिरिक्तः पदार्थो भवति । प्रतिबन्धके सति तन्नाशाद् दाहोत्पत्तिर्न जायते इति चेत् ? ***न,*** यथा दाहत्वावच्छिन्नं प्रति करतलानलसंयोगत्वेन कारणता तथा कार्यमात्रं प्रति प्रतिबन्धकाभावत्वेनापि कारणताऽस्ति । अत्र प्रतिबन्धकाभावरूपस्य कारणस्य नष्टत्वाद् दाहोत्पत्तिर्नेत्यर्थः । शक्तेस्तु उपयोग एव नास्ति । **नन्वि**ति-***ननु*** भस्मादिना कांस्यादौ आधारे आधेया शुद्धिर्यथा दृश्यते तथा वह्नावपि आधेयशक्तिः स्वीकार्या इति चेत् ? ***न,*** भस्मादिसंयोगस्य समानकालीनाः, अस्पृश्यस्पर्शोऽमेध्यस्पर्शः प्रतियोगी येषां ते तथोक्ता ये यावन्तो अभावाः-अस्पृश्यस्पर्शाभावाः तत्सहितो यो भस्मादिसंयोगध्वंसः स एव शुद्धिपदस्यार्थः इति भावः ।

स्वत्वमिति-स्वत्वं द्रव्ये, स्वामित्वं चैत्रादौ । स्वत्वं पदार्थान्तरं न भवति, किन्तु यथेच्छया विनियोगो, दानमादानं, क्रयो विक्रय इत्यादिः, तद्योग्यत्वं स्वत्वपदार्थः । यथा चैत्रीये वस्तुनि चैत्रीयं यथेष्टविनियोगयोग्यत्वं न

तु मैत्रीयमिति । यथेष्टविनियोगयोग्यतावच्छेदकं च प्रतिग्रहादिना लब्धत्वमेवेति ।

प्रवृत्तिजनिका या चिकीर्षा, चिकीर्षाजनकं यद् ज्ञानं तद्विषयो विधि-रुच्यते । यद्वा प्रवृत्तिजनकचिकीर्षाजनकज्ञानविषयप्रतिपादको लिङादिर्विधिः । कृतिसाध्यत्वप्रकारकेच्छा चिकीर्षा । प्रवृत्तेर्जनकं प्रवर्तकमुच्यते, तत्किं भवतीत्याह-**कृतीति** । मेरुशृङ्गाहरणे इच्छा त्वस्ति परं तत्कृतिसाध्यं न भवति अत 'इदं मत्कृतिसाध्यम्' इति कृतिसाध्यताज्ञानमेव प्रवर्तकम् । **न चे**ति-इदं मत्कृतिसाध्यं मदिष्टसाधनत्वात् इति ज्ञानं प्रवर्तकं बोध्यं तेन विषभक्षणं हि कृतिसाध्यं त्वस्ति परं इष्टसाधनं नास्ति ततो न तत्र प्रवृत्तिप्रसङ्गः । **इष्टे**ति-इदं काम्यस्थले प्रवर्तकम् । नित्यस्थले नैमित्तिकस्थले च प्रवृत्तिं प्रति कारणं किं भवति तदाह विहितेति । विहितं शास्त्रोक्तं यत्कालजीवित्वम् 'अस्मिन् काले इदं कार्यं कृत्वा जीवनीयम्' इति । तथा निमित्तं तज्ज्ञानजन्यं यत्कृतिसाध्यताज्ञानं तदित्यर्थः । यदकरणे प्रत्यवायस्तन्नित्यम् । **न चे**ति-***एवं*** तर्हि अनुगमो न स्यात् इति चेत् ? ***न,*** स्वविशेषणवत्ताज्ञानजन्यकृतिसाध्यताज्ञानं प्रवर्तकम्, तेन अननुगमो नास्ति इति **प्राभाकराः** । तन्न, **लाघवेने**ति-इष्टं-इच्छाविषयः कृतिसाध्य यदिष्टं, तस्य या साधनता तद्ज्ञानं सामान्यतः प्रवर्तकम् । **न च नित्ये** इति-नित्येऽपि प्रत्यवायप्रागभावपरिपालनम् । पापक्षयश्च फलं कल्प्यते । ततश्च तत्रापि इष्टसाधनत्वान्न दोषः ।

श्रीजिनभक्तिसूरीन्द्र-पट्टभासनभास्कराः ।
श्रीजिनलाभसूरीन्द्राः आसंश्चन्द्रकुलेश्वराः ॥१॥

प्रीतिसागरनामानः, श्रीमन्तस्तत्सतीर्थ्यकाः ।
वाचकाऽमृतधर्माख्यास्तेषां शिष्या विचक्षणाः ॥२॥

तद्विनेयेन क्षमादिकल्याणेन मनीषिणा ।
तर्कसङ्ग्रहसूत्रस्य सवृत्तेः फक्किका इमाः ॥३॥

यथा श्रुता गुरुमुखात् तथा सङ्कलिताः स्वयम् ।
वसु[8]नेत्र[2]सिद्धि[8]चन्द्र[1]प्रमिते हायने मुदा ॥४॥ चतुर्भिः कलापकम् ।

सुरतबिन्दरे इति शेषम् ॥

इति श्रीतर्कसङ्ग्रहफक्किका उपाध्यायश्रीक्षमाकल्याणविरचिता समाप्ता । श्रीरस्तु । सं. १८२४ रा. मि. वैशाखवदि २ दिने पं. अबीरेण लिखिता । शुभं भवतु । अजीमगंजमध्ये । कल्याणमस्तु ।

● ● ●

श्री विजयमहोदयसूरि ग्रंथमाला - १४

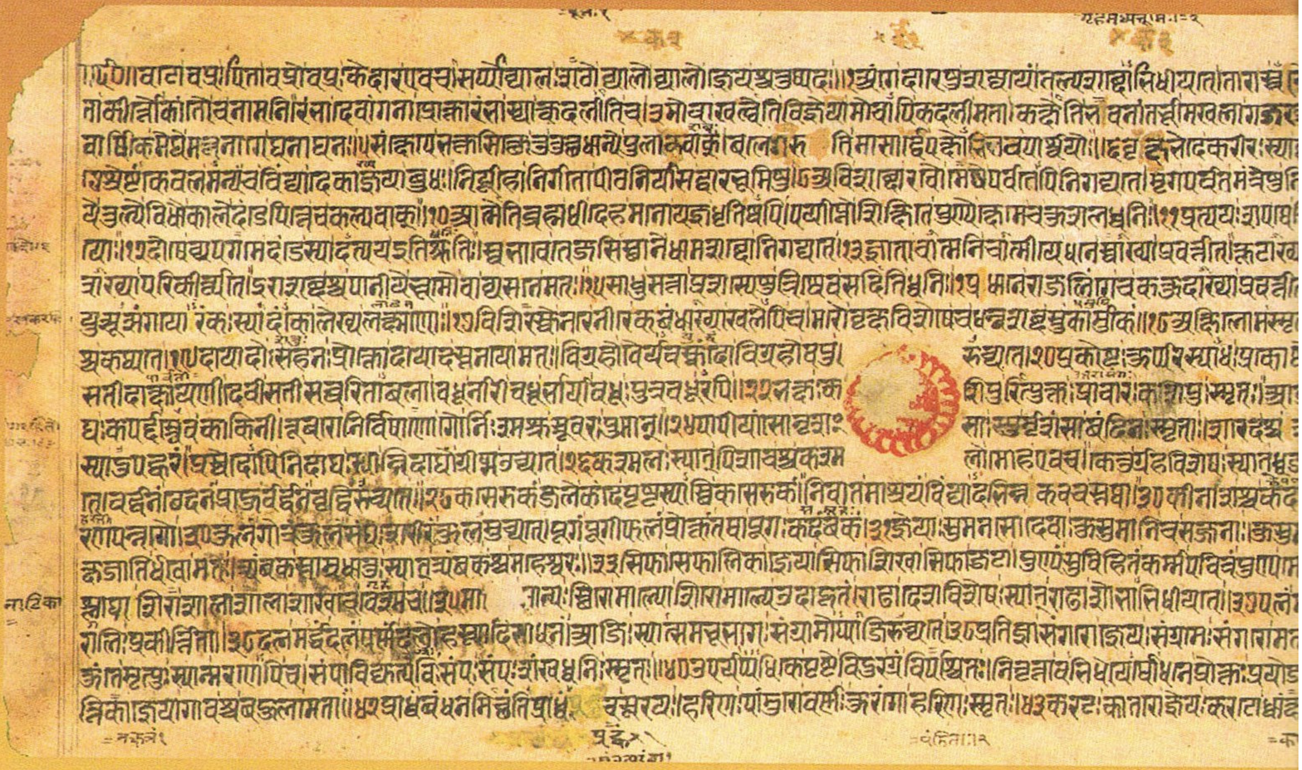

प्रवचन प्रकाशन